प्रकाशक
हिमालय एजेंसी, कनखल
(उ० प्र०)

प्रथम सस्करण १६५८
मूल्य दो रुपए

मुद्रक ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिंटर्स एड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता–७



अपने परम प्रिय वन्धु

'श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन' के संस्थापक

कर्मयोगी ब्राह्मण

वैद्य पं० रामनारायण शर्मा

को

सप्रेम समर्पित

वैद्य पं० रामनारायण शर्मा

वैद्य प० रामनारायण शर्मा मेरे बहुत पुराने मित्र है, ऐसे मित्र, जिन्हें मै 'भाई' कहता हूँ। वे मुझे अपना बडा भाई मानते है।

वैद्यजी सस्कृत के पण्डित है, राष्ट्रभाषा के उपासक है, सच्चे कर्मठ ब्राह्मण है और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-सग्राम में (१६२१ से १६४५ तक) आप का समुचित सहयोग रहा है। अछूतोद्धार में भाग लेने के कारण आप को अपने रिश्तेदारो से बडी-बडी तकलीफें मिली है।

वैद्यजी ने इस प्रवाद को गलत सिद्ध कर दिया है कि 'संस्कृत के पण्डित व्यापार-व्यवसाय नहीं चला सकते' और यह भी गलत हो गया है कि 'व्यापारी-व्यवसायी में ब्राह्मणत्व नहीं रह सकता।'

वैद्यजी सनातनधर्मी है, परन्तु रूढिवादिता से बहुत दूर है।

सन् १६२५ में प्रथम परिचय हुआ, जब वैद्यजीने अपने गावें 'कांसली' (जयपुर) में शिक्षा का बीज-वपन किया। मै वहाँ अध्यापक होकर गया; परन्तु कुछ ही महीने रह कर चला आया, नाराज हो कर चला आया। उस समय 'वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन' शैशव में था। आगे यह बीज सुमहान् वट-वृक्ष के रूप में प्रकट हुआ।

'कांसली' से चले आने पर लगभग दस वर्ष तक हम लोग एक दूसरे से दूर रहे और सन् १६३५ में वैद्यजी ने मुझे फिर ढूंढ लिया। इस के बाद ऐसी घनिष्ठता बढी कि आज यह कृति उन्हें समर्पित करने को जी चाहने लगा। अपनी भावना प्रकट करने का यही तो एक-मात्र साधन है, मेरे जैसे लोगो के पास!

— लेखक

प्रकाशकीय वक्तव्य

कुछ दिन पहले दादा (वाजपेयी जी) का एक लेख 'हिन्दी शब्दनिर्णय' हम ने 'सम्मेलन-पत्रिका' से ले कर प्रकाशित किया था। कोई बीस पृष्ठों में शब्द-विवेचन था। इस की बड़ी प्रशंसा हुई। हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं ने पूरे-पूरे पृष्ठ में इस का महत्त्वपूर्ण परिचय दिया। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों ने भी इसे अलभ्य-लाभ समझा। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों ने भाषा-निर्देशिका के रूप में इसे ग्रहण किया। परन्तु सब ने मांग की कि इस विषय पर विस्तृत विचार चाहिए—हिन्दी के अन्य चिन्त्य प्रयोगों पर भी प्रकाश पड़ना चाहिए। उसी मांग की पूर्ति इस नई पुस्तक के रूप में की गई है।

विश्वास है, इस से हिन्दी का स्वरूप निखरे हुए रूप में सामने आए गा और सभी भ्रम तथा सन्देह दूर हो जाएं गे।

— मधुसूदन वाजपेयी

लेखक का निवेदन

हमारे पुरखों ने—उत्तर प्रदेश के (व्रज, अवध, वैसवाडा, बुंदेलखण्ड, बघेलखण्ड, रुहेलखण्ड, गढवाल, कूर्माञ्चल आदि की अपनी-अपनी बोली-भाषा रखनेवाले दूरदर्शी) पूर्वजो ने—तथा राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार आदि प्रदेशो ने बहुत दिन पहले ही हिन्दी को अन्तर-प्रान्तीय भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया था और इस इतने वडे भू-भाग में लिपि भी एक ही—'नागरी'। शासन के प्रलोभन, दवाव-प्रभाव या दाँव-पेंच भी इन प्रदेशों की उपर्युक्त ऐक्य-भावना को न वदल सके। इन प्रदेशो की जनता का देश भर में आना-जाना स्वाभाविक ही था। इन के साथ हिन्दी भी सर्वत्र पहुँची। ववई-कलकत्ता जैसे वडे शहरों का कारवार चलने-चलाने में हिन्दी माध्यम वनी। साधु-सन्तो के द्वारा भी देश भर में हिन्दी का सचार हुआ। इधर उत्तर प्रदेश में हिन्दुओं के वडे-वडे तीर्थ हैं। यहाँ देश भर की जनता के आने-जाने से भी हिन्दी को वल मिला। उधर 'उर्दू' नाम-रूप से सुदूर दक्षिण अञ्चल के मुसलमानो में भी इस के प्रति मोह पैदा हो चुका था। यह सव देख कर सुविज्ञ महापुरुषों के मन में आया कि देश भर की कोई एक सामान्य भाषा होनी चाहिए और (उन्होंने खुल कर प्रकट किया कि) नि सन्देह हिन्दी में ही वह शक्ति है कि देश की सामान्य भाषा वन सके। इस के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी आदि उन महापुरुषों ने प्रयत्न किए, जिन्हें 'हिन्दी-भाषी' नहीं कहा जा सकता। वगाल, गुजरात और महाराष्ट्र जैसे प्रदेशों ने सब से पहले इधर ध्यान दिया और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण करने पर बल दिया। स्वातन्त्र्य-वीर सावरकर जैसे प्रमुख क्रान्तिकारी नेताओ ने इस शताब्दी के प्रथम दशक में ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया था

और लंदन आदि में जब विभिन्न प्रदेशों के भारतीय मिलते थे, तो हिन्दी में ही बात-चीत करते थे। इस के अतिरिक्त, कलकत्ते के जस्टिस शारदाचरण महोदय ने यह आन्दोलन शुरू किया था कि देश की सभी (बंगला, उड़िया, गुजराती आदि) भाषाएँ नागरी लिपि में ही लिखी जाया करें, जैसे कि योरप की विभिन्न भाषाएँ रोमन लिपि में चलती हैं। यह आन्दोलन जब शुरू हुआ, तब तक 'सम्मेलन' पैदा भी न हुआ था और 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' अपने शैशव में ही थी। श्री शारदा-चरण महोदय को ऐसी लगन लगी कि अपना अधिकांश समय इसी काम को देने लगे और इस में अपना हजारों रुपए मासिक खर्च करने लगे। बड़े प्रभावशाली थे, हाई कोर्ट के जज थे। एक मासिक पत्र भी उन्हों ने 'देवनागर' नाम से निकाला था, जिस में भारत की सभी भाषाओं के लेख 'नागरी' लिपि में छपते थे। 'नागरी' लिपि को सम्मान देने के लिए वे 'देवनागरी' कहा करते थे; इसी लिए पत्र का नाम 'देवनागर'। तब 'देवनागरी' शब्द भी 'नागरी' के साथ-साथ चलता था। यों राष्ट्र की एकता के लिए एक भाषा और राष्ट्र की सभी भाषाओं के लिए एक लिपि का स्वप्न ऋषियों ने देखा।

आगे चल कर राजर्षि टंडन की तपस्या और जनता की मांग से हिन्दी तो राष्ट्रभाषा स्वीकृत हुई; पर 'एक लिपि' का स्वप्न अभी पूरा नहीं हुआ है। आगे चल कर यह भी पूरा हो गा; इस में सन्देह नहीं।

राष्ट्रभाषा का स्वरूप और उलझनें

हिन्दी जब राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई, तब विभिन्न प्रदेशों से, विशेषत दक्षिण भारत से, यह आवाज आई कि हिन्दी का स्वरूप नियमित और अनुशासन-बद्ध नहीं है, इस लिए इस के सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। बात सच थी। हिन्दी का कोई तात्त्विक व्याकरण न था। पं० कामताप्रसाद गुरु का 'हिन्दी-व्याकरण' सर्वोपरि

था और अंग्रेजी में मि० केलाग का हिन्दी-व्याकरण। गुरु जी का व्याकरण भी केलाग से प्रभावित था। शतश हिन्दी के व्याकरण चल रहे थे, पं० कामताप्रसाद गुरु के 'हिन्दी-व्याकरण' के आधार पर ही बने हुए। सब के सब गडबड थे। हिन्दी सीखने-समझने में तो इन से वैसी मदद मिलती न थी, पर गडबड और मच जाती थी। 'राम ने रोटी खाई' और 'लडकी ने फल खाया' जैसे वाक्य 'कर्तृवाच्य' समझाए-रटाए जाते थे और 'हम ने तुम को बुलाया' जैसे प्रयोग सामने देख कर भी 'व्याकरण' का नियम याद किया जाता था—'सकर्मक क्रियाओ के रूप भाववाच्य नहीं होते'। इसी तरह की आधार-भूत गडबडें थीं।

'गुरु' जी का व्याकरण केवल उन का न था। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने एक 'व्याकरण समिति' बनाई थी, जिस में आचार्य द्विवेदी भी थे। इस समिति के निर्देशो के अनुसार 'गुरु' जी ने हिन्दी-व्याकरण लिखा था और उसकी पाण्डुलिपि पर उपर्युक्त समिति में फिर पूरा विचार हुआ था। समिति ने कुछ सुझाव-सशोधन दिए, जिस के अनुसार उस का सुपरिष्कार कर के प्रकाशन हुआ। 'गुरु' जी के 'हिन्दी-व्याकरण' पर उस व्याकरण-समिति ने ता० १४ अक्टूबर १९२० के दिन अपनी मान्यता की मुहर लगाई और इस के अनन्तर उसका प्रकाशन हुआ।

मै सन् १९१९ में पेशावर के 'नेशनल हाई स्कूल' में सस्कृत का प्रधान अध्यापक था। उन दिनो सस्कृत-अध्यापक को ही हिन्दी भी पढानी होती थी। हिन्दी के साथ व्याकरण भी पढ़ाना पडता था। उस समय तक सब हिन्दी-व्याकरण पादरी एर्थारिगटन साहब के 'भाषा-भास्कर' का अनुसरण करते थे। 'भाषा-भास्कर' अपने निर्माण-काल से ले कर आगे चालीस-पचास वर्षों तक सर्वमान्य रूप से चलता रहा। 'गुरु' जी ने भी इस व्याकरण की प्रशसा की है। स्कूलो में हिन्दी-व्याकरण जो चल रहे थे, इसी आधार पर थे। मुझे जगह-जगह खटक होती थी। सोचना शुरू किया। उलझनो में उलझता गया। जब 'गुरु' जी का

'हिन्दी-व्याकरण' प्रकाशित हुआ, एक धूम मची। 'सभा' का यह बहुत बड़ा काम समझा जा रहा था। 'गुरु' जी का 'हिन्दी-व्याकरण' प्रकाशित हो, इस से पहले ही प० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने एक स्वतंत्र व्याकरण लिख कर 'हिन्दी-कौमुदी' नाम से प्रकाशित करा दिया। 'गुरु' जी ने अपने व्याकरण की भूमिका में 'हिन्दी-कौमुदी' को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है। सो, १६२१–२२ में इन दो व्याकरणों की सत्ता सर्वोपरि थी। 'दो व्याकरण' क्यों कहा जाए? दो 'वैय्याकरण' सर्वोपरि थे। व्याकरण तो केलाग, एथरिंगटन, वाजपेयी तथा 'गुरु' जी का एक ही था। सब में सिद्धान्ततः कोई विशेष भेद न था।

जब इन प्रमुख व्याकरणों से भी समाधान न हुआ, तो जबलपुर जा कर मैंने 'गुरु' जी से दो बार भेंट की। चर्चा चलने-चलाने पर मुझे और अधिक निराशा हुई। तब पत्र-पत्रिकाओं में व्याकरण-विषयक चर्चा चलाई। सन् १६२४–२५ से चर्चा शुरू हुई। प० वेंकटेश-नारायण तिवारी का भी एक व्याकरण हाई स्कूल के कोर्स में लगा हुआ था। 'गुरु' जी के व्याकरण का निराकरण होने से—सब की तरह—तिवारी जी का भी व्याकरण स्वतः निराकृत हो रहा था। तिवारी जी पुराने और तेजस्वी साहित्यिक हैं। जवाब दिया। यह व्याकरण-चर्चा प्रयाग के जिस पत्र में चल रही थी, वह आचार्य द्विवेदी की सेवा में भी (दौलतपुर) पहुँचता था। तिवारी जी को मैं ने जो उत्तर दिया, उस में हिन्दी-व्याकरण का मौलिक रूप झलक रहा था। आचार्य द्विवेदी ने यह उत्तर-प्रत्युत्तर पढ़ कर मुझे पत्र लिखा, पीठ ठोंकी और इस दिशा में आगे बढ़ने को प्रोत्साहन दिया। हिम्मत बढ़ी। आचार्य द्विवेदी जिस 'हिन्दी-व्याकरण' के स्वयं निर्देशक तथा प्रमुख परीक्षक थे, उसी का निराकरण करने वाले को प्रोत्साहन देने का मतलब था कि वे उस काम को गलत स्वीकार करते हैं। अपनी गलती को गलती मान लेना ही तो सज्जन-धर्म है। इसी लिए वे इस युग के, हिन्दी के, एक मात्र आचार्य माने गए।

आगे चलते-चलते मैं ने 'ब्रजभाषा का व्याकरण' लिखा, जिस की बड़ी मांग थी। लोग समझते थे कि हिन्दी का व्याकरण तो बन चुका, ब्रजभाषा का भी बनना चाहिए। इस ब्रजभाषा-व्याकरण की शताधिक-पृष्ठव्यापिनी चुस्त भूमिका में मैं ने 'गुरु' जी के तथा इसी प्रकार दूसरे लोगो के हिन्दी-व्याकरणो का निराकरण कर के हिन्दी-व्याकरण का असली रूप सक्षेप में समझाया। 'गुरु' जी को भी एक कापी भेंट की, रजि० पैकेट से उन की सेवा में भेजी। 'गुरु' जी इस से अत्यधिक प्रभावित हुए और 'हिन्दी-व्याकरण' का सशोधन किया, पर इस सशोधन में अपना पुराना रूप भी रखा। उदाहरण के लिए—'राम ने रोटी खाई' को 'कर्तृवाच्य' और 'कर्मणि प्रयोग' बतलाया! पहले से भी अधिक उलझन! 'कर्तृवाच्य' और 'कर्तरि प्रयोग' एक ही चीज है। 'कर्मवाच्य' को ही 'कर्मणि प्रयोग' कहते हैं। 'गुरु' जी के इस प्रकार के सशोधन से अत्यधिक उलझनें बढ़ीं। कोई कहे "आग ठढी होती है, गरमाहट के साथ" तो सुनने वाले की समझ में क्या आएगा? 'कर्तृ-वाच्य-कर्मणि प्रयोग' ऐसी ही बात है। हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई, तब अहिन्दी-प्रदेश हिन्दी-व्याकरण की मांग बराबर करने लगे, करते ही गए। तब मैं ने 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिख कर प्रकाशित कराया। इस से एक बहुत बड़ा अन्धकार दूर हुआ। अहिन्दी-भाषी प्रदेशों को सन्तोष हुआ और मदरास के 'दक्खिनी हिन्द' ने लिखा कि "हिन्दी का यह पहला ही व्याकरण है, जिसे हम वस्तुत व्याकरण के रूप में ग्रहण करते हैं। इस से वे सब उलझनें दूर हो गई हैं, जो अहिन्दी-भाषी जनों के सामने आया करती थीं।"

'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' तथा 'हिन्दी-निरुक्त' महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने वी० पी० से मँगा कर पढ़े और उस के तुरन्त बाद ही 'आचार्य किशोरीदास वाजपेयी' शीर्षक एक लेख लिख कर कलकत्ते के 'नया समाज' में छपाया। मेरे व्याकरण तथा निरुक्त की अत्यधिक प्रशसा थी।

राहुल जी के इस लेख का प्रभाव डा॰ अमरनाथ झा पर भी पड़ा। वे उन दिनों 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' के अध्यक्ष थे। आप ने 'सभा' को लिखा कि वाजपेयी से हिन्दी का एक बड़ा व्याकरण बनवा लेना चाहिए। 'सभा' के अधिकारियों ने मुझे आमंत्रित किया और सम्मानपूर्वक वे सब सुविधाएँ दीं, जो मैं चाहता था। मेरी सब शर्तें भी मान लीं और मैं ने दो वर्षों के भीतर ही 'हिन्दी शब्दानुशासन' नाम से एक प्रौढ हिन्दी-व्याकरण लिख कर 'सभा' को सौंप दिया, जो अब प्रकाशित हो गया है। यह व्याकरण प्रौढ विद्वानों के लिए है। इस के अनुसार जब छात्रों के लिए व्याकरण लिखे-छपाए जाएँ गे, तब व्यापक अन्धकार मिटेगा।

यों यह व्याकरण का काम पूरा हुआ। परन्तु हिन्दी में 'राष्ट्रीय' चले, या 'राष्ट्रिय' और 'राजनैतिक' ठीक है, या 'राजनीतिक', 'पांच फुट' या 'पांच फीट', 'दम्पति' चले, या दम्पती', इस तरह की बातें उस महाग्रन्थ में कौन ढूंढता फिरे गा ? 'चाहिए'—'चाहिये' में कौन सा रूप सही है ? दूसरा क्यों गलत है ? यह सब संक्षेप में, स्पष्टता के साथ, प्रसंग बता देना जरूरी है, जिस से सब समझ लें। भाषा के शतश और सहस्रश शब्दों में द्विरूपता और विरूपता अब ठीक नहीं। चाहिए—चाहिये, सताएँ—सतायें, बैठिए—बैठिये, आए गा—आये गा आदि की पटरी पर सहस्रश शब्द दौड़ रहे हैं। इन पर अभी किसी ने विचार ही नहीं किया ! वैकल्पिक रूप समझ लिए गए ! 'चाहिए' और 'चाहिये' क्या भिन्नार्थक शब्द हैं ? तब यह रूप भेद किस आधार पर है ? यह सब लोग सोचें गे। उलझें गे। उन की इसी उलझन को दूर करने का यह प्रयास है। भाषा में शब्दों की एकरूपता और वाक्य में शब्दों के सही प्रयोगों का निदर्शन इस पुस्तक में आप पाएँगे।

कनखल (उ॰ प्र॰)
श्रावणी, २०१५ वि॰

किशोरीदास वाजपेयी

अर्थों मे चलता रहा—चलता है , पर 'पत्ता' व्यवस्थित है । 'चिट्ठी-पत्री' के 'पत्री' का विकास 'पाती' के रूप मे हुआ—'आई न पिय की पाती' । 'पत्ती' इस अर्थ मे नही चला, नहीं चलाया गया , क्योकि वह 'पत्ता' का स्त्रीलिङ्ग-रूप है । 'प्रिय' का विकास 'पिय' हुआ , पर 'प्रिया' का 'पिया' नही हुआ । क्यो नही हुआ ? इस लिए कि 'प्रिय' का 'पिय' बन जाने पर हिन्दी की 'अपनी' पुंविभक्ति लग कर 'पिया' रूप भी बनता-चलता है—'पिया गए परदेस'' । 'प्रिय' भी 'पिया' और 'प्रिया' भी 'पिया' , यह गडबडी हिन्दी को पसन्द नही । हाँ, 'सीता' का 'सिया' रूप हिन्दी ने स्वीकार कर लिया , क्योकि यहाँ कोई वैसी बात नही । इसी का रूप 'सीय' है । 'सीय' हिन्दी की सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति पर है । हिन्दी 'अपने' तथा तद्भव शब्दो के पुरूप मे खडी पाई (ा) आगे लगा देती है, यदि शब्द मूलत अकारान्त हुआ , जैसे—दण्ड-डडा, मथित-मट्ठा आदि । इसी लिए इस का नाम 'खडी बोली' । आता, आया, आए गा, खट्टा-मीठा आदि मे यही है । जब 'आ' पुल्लिङ्ग एकवचन का लिङ्ग (चिह्न) बन गया, जिसे हिन्दी 'अपने' तथा तद्भव शब्दो मे लगती है तो स्वभावत वह 'अपने' तथा तद्भव स्त्रीलिङ्ग शब्दो को आकारान्त न रखे गी । इसी लिए द्राक्षा>दाख, खट्वा>खाट, शिक्षा>सीख, भिक्षा>भीख आदि तद्भव स्त्रीलिङ्ग शब्द अकारान्त आप देखते है । इसी पद्धति पर सीता>सिया> सीय समझिए । 'सीता' का 'सिया' रूप उ० प्र० के पूरबी अचल मे हुआ, जहाँ 'खडी पाई' की वैसी स्थिति

नही, जो 'खड़ी बोली' का क्षेत्र नही। वहाँ 'मीठा पानी' नही, 'मीठ पानी' चलता है, 'जाना है' की जगह 'जात है', चलता है। इस लिए 'सीता' का 'सिया' रूप और 'वृद्धा' को 'बूढा' भी बोलते हैं। परन्तु 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में 'बूढा' पुल्लिङ्ग है—वृद्ध>वुड्ढ>बूढा। 'बूढ' मे पुंविभक्ति लगा कर 'बूढा'। 'बूढा' को और अधिक साफ करने के लिए—'बुड्ढा'-'बुड्ढी'। 'बूढा' जहाँ (पूरब मे) स्त्रीलिङ्ग बोलते हैं, वहां स्पष्टता के लिए 'इया' स्वार्थिक प्रत्यय कर के 'बुढिया' कर देते हैं। यह 'बुढिया' शब्द राष्ट्रभाषा मे भी गृहीत है, स्पष्ट है। परन्तु 'बूढा जा रही है' न बोला जाए गा। 'बूढा' शब्द भ्रम पैदा कर सकता है। भ्रम न भी हो, तो किसी स्त्री का बहुत लंबा पद अच्छा न लगे गा। तद्रूप संस्कृत शब्द 'वृद्ध'-'वृद्धा' चलते ही हैं। पर जहां तद्भव रूप मिला कि हिन्दी का अनुशासन हुआ संस्कृत मे पुल्लिङ्ग ह्रस्व, स्त्रीलिङ्ग दीर्घ-'राम'-'रामा'। हिन्दी ने परिवर्तन किया—पुल्लिङ्ग दीर्घ और स्त्रीलिङ्ग ह्रस्व।

यह सब कुछ स्पष्टता के लिए। 'पिता' का प्राकृत-रूप 'पिदा' होता है, और 'पिआ' भी। 'पिदा' तो हिन्दी ने इस लिए पसन्द न किया कि बोलने मे वह भद्दा लगता है और 'पिआ' इस लिए न लिया कि स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार 'इ' को 'य्' हो कर 'पिया' रूप बन जाता और भ्रामक होता। कारण, 'प्रिय' का 'पिय > पिया' रूप पहले बन चुका था। तो पति को भी 'पिया' और पिता को भी 'पिया' कहना कितना भद्दा भ्रमजनक होता! इस लिए 'पिआ' प्राकृत-रूप 'पिता'

का हिन्दी ने ग्रहण नही किया—तद्रूप सस्कृत 'पिता' ही स्वीकार किया। यही हिन्दी का विवेक स्पष्ट देखा जाता है। 'सूची' का प्राकृत-रूप 'सूई' और 'सुई' हिन्दी ने लिया और फिर इस का पुरूप 'सुआ' भी वनाया। एक दूसरे छोर पर सस्कृत 'शुक' का प्राकृत 'रूप 'सुअ' ले कर, उसमे अपनी पुविभक्ति लगा कर, 'सुआ' भी वना चला, चल रहा है। यानी एक 'सुआ' 'सुई' से वना और दूसरा 'शुका' से वना। सो, 'सुआ' तो हिन्दी ने लिया, पर प्राकृत का (पिता>) 'पिआ' नही लिया। ऐसा जान पडता है, जैसे कोई विवेकशील शब्दो को गढ रहा हो!

प्राकृत का 'पिआ' न ले कर 'पिता' सस्कृत का तद्रूप शब्द ग्रहण किया, पर यौगिक स्यल में 'पीहर' दिखाई देता है। 'पितृगृह' का 'पीहर' है। 'पितृगृह' सस्कृत मे यमलोक को भी कहते है। 'बहू पितृगृह जा रही है' कहने में अमगल की छाया दिखाई देती है। इस लिए 'पीहर' कर लिया। 'वहू पीहर जा रही है' ससुराल में ही कहा जाए गा, इस लिए कोई भ्रम भी नही। 'पिय-घर' या 'पी-घर' की कल्पना भी नही हो सकती। वह तो उस का 'अपना' घर है। उसे 'प्रियगृह' कौन कहे गा? 'प्रियगृह' से तो ऐसा जान पडता है कि उस में उस का कुछ है ही नही! सो, 'पीहर' से 'प्रियगृह' समझने की बेवकूफी कोई न करे गा। 'पीहर' कहने मे आत्मीयता भी है, स्वत्व की भी व्यजना है। विवाहित लडकी का घर तो दूसरा हो जाता है, पर अपने बाप का घर छूट थोडे ही जाता है। बाप का घर अपना घर। यह

चीज मेरी है, मेरे बाप की है। यही चीज 'पीहर' में है। 'पीहर' की जगह 'मायका' भी कहीं-कहीं चलता है। मातृ> माई, जैसे भ्रातृ>भाई। 'माईका'>'मायका'। यहाँ 'क' तद्धित प्रत्यय है। माई का घर—'मायका'। साधारण 'क' प्रत्यय यह नहीं है। 'मायके गई' 'पीहर गई'। पूरब में 'नैहर' कहते हैं। अवधी में 'नैहर' ही चलता है। व्रज में 'पीहर' और खड़ी बोली के क्षेत्र में 'मायका'। राष्ट्रभाषा में तीनों शब्द गृहीत हैं। परन्तु 'नैहर' में वह जोर नहीं, जो 'पीहर' में है। 'नैहर'<'ज्ञातिगृह'। बन्धु-बान्धवों को 'ज्ञाति' कहते हैं, जिन में मा-बाप भी शामिल हैं, पर प्रमुख नहीं। 'पीहर' 'मायका' में बाप और मा की प्रधानता है, बन्धु-बान्धव तो साथ ही हैं।

प्रासंगिक चर्चा बढ़ी जा रही है। कहना केवल यह कि हिन्दी का विकास सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति पर हुआ है, जिस में विवेक का पूर्ण सहयोग है।

हिन्दी के विकास में सरलता पर पूरा ध्यान रहा है। संस्कृत में तिङन्त और कृदन्त रूप से क्रिया क्रियाएँ चलती हैं। परन्तु तिङन्त का मार्ग बहुत बीहड़ और उलझन का है, कृदन्त अत्यन्त सरल। 'कृ' धातु ही ले लीजिए। भूतकाल में—

त्वम् अकरोः—तू ने किया
यूयम् अकुरुत—तुम ने किया
अहम् अकरवम्—मैं ने किया
वयम् अकुर्म—हमने किया

विभिन्न पुरुष-वचनों में कितने रूप संस्कृत तिङन्त के हैं? परन्तु हिन्दी में सर्वत्र एक रूप 'किया।' कितनी

सरलता है? हिन्दी ने यह सरलता कहाँ से ली? उसी सस्कृत से। सस्कृत के कृदन्त रूप वहुत सरल हैं। उन्ही का अनुसरण हिन्दी ने किया है—

रामेण कृतम्—राम ने किया
वालकै कृतम्—वालकों ने किया
त्वया कृतम्—तू ने किया
युष्माभि कृतम्—तुम ने किया
मया कृतम्—मैं ने किया
अस्माभि कृतम्—हम ने किया

सर्वत्र एक ,कृत' है, और उसी की प्रतिच्छाया हिन्दी मे 'किय'>'किया'। हिन्दी ने सस्कृत की यो सरल कृदन्त पद्धति ग्रहण की, पर उसे और अधिक सरल कर दिया, सर्वत्र 'ने' का प्रयोग कर के। यह 'ने' सस्कृत के 'वालकेन' का 'इन' अलग कर के वर्ण-व्यत्यय से 'न'+इ='ने' रूप है। भूत काल की कर्मवाच्य तथा भाववाच्य क्रिया के सभी कर्ता-कारक इस 'ने' विभक्ति के ही साथ रहते हैं, जब कि सस्कृत में स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग या पुरुष-भेद से न जाने कितने रूप-भेद होते हैं! ये सब व्याकरण की बातें हैं, वही देखने की हैं। यहाँ प्रसग-वश इतना उल्लेख कि हिन्दी कितनी सरल भाषा है।

एक निश्चित पद्धति

क्रियाओ की जटिलता तो हिन्दी ने दूर कर ही दी, पर पदों के मूल रूप (प्रातिपदिक, धातु उपसर्ग, अव्यय) लेने में भी सरलतम पद्धति अपनाई है। हिन्दी के 'अपने' सभी

शब्द स्वरान्त हैं, एक भी व्यंजनान्त नहीं। संस्कृत के भी जो शब्द तद्भव रूप में ग्रहण किए गए हैं, सब स्वरान्त, एक भी व्यंजनान्त नहीं। सभी तरह के शब्दों में यही नीति है। 'पञ्चाशत्' का रूप 'पचास' है और 'चत्वारिंशत्' का 'चालीस'। 'षष्' का ('सस' कर के) 'छह' रूप है, जिसे उच्चारण साम्य के कारण 'छः' प्रामादिक रूप लोगों ने दे दिया है। इन पर आगे हम यथास्थान विचार करेंगे।

यानी, शब्दों के अन्त में विसर्ग रहने के कारण बहुत झंझट थी। सन्धि-चक्कर मार लेता है। इसी तरह व्यंजनान्त शब्दों में झंझट है। इन दोनों झंझटों को हिन्दी ने दूर रखा, जैसा कि प्राकृत-अपभ्रंश में भी है। प्राकृत में तो 'पुत्र' को 'पुत्तो' कर दिया गया, पर हिन्दी में सीधा 'पूत'। 'पुत्र' भी चलता ही है।

तद्भव शब्दों में ही नहीं, तद्रूप (तत्सम) शब्द संस्कृत के जो हिन्दी में आते हैं, वे भी हिन्दी की प्रकृति का पूरा ध्यान रख कर ही इधर मुँह करते हैं। वे अपने अन्त के व्यंजन तथा विसर्ग वहीं छोड़ आते हैं। हिन्दी ने एक पद्धति अपनाई कि संस्कृत के प्रातिपदिक न ले कर 'पद' ग्रहण किए जाएँ। पद-वन्दना का उत्तम भाव। वह इस लिए कि संस्कृत के प्रातिपदिकों को ही यहाँ प्रातिपदिक के रूप में ग्रहण करना एक झंझट थी। हिन्दी ऋकारान्त प्रातिपदिक नहीं चाहती। ऋकारान्त की यहाँ कोई स्थिति नहीं है। परन्तु संस्कृत में 'पितृ' 'मातृ' 'भ्रातृ' आदि ऋकारान्त प्रातिपदिक हैं। इन्हीं में विभक्तियाँ लगा कर 'पद' बनाए जाते हैं। परन्तु हिन्दी ऋकारान्त

प्रातिपदिक पसन्द नही करती , क्यो नही करती , यह वात अन्यत्र विस्तार से वताई गई है। यहाँ इतना ही समझिए कि हिन्दी को ऋकारान्त प्रातिपदिक ग्राह्य नही। 'पितृ ने' 'मातृ को' 'भ्रातृ से' जैसे पद हिन्दी नही चाहती। इस लिए, ऐसे शब्दो के सस्कृत (प्रथमा एक वचन) मे जो रूप वनते है, उन्हे—उन सस्कृत 'पदो' को—हिन्दी ने अपने यहाँ 'प्रातिपदिक' वनाया। सस्कृत मे 'पितृ' 'प्रातिपदिक' और हिन्दी मे (सस्कृत का 'पद') 'पिता' प्रातिपदिक। 'पिता ने माता जी से कह दिया है।'

सस्कृत को व्यजनान्त प्रातिपदिक पसन्द नही, इस लिए सस्कृत प्रातिपदिक 'राजन्' का पद-रूप 'राजा' ले कर अपना प्रातिपदिक वनाया—'राजा ने'।

परन्तु 'चन्द्रमस्' प्रातिपदिक का सस्कृत मे 'चन्द्रमा' रूप होता है, प्रथमा के एक वचन में।' 'चन्द्रमस्' सस्कृत-प्रातिपदिक स्वीकार नही , क्योकि अन्त मे व्यजन 'स्' है। परन्तु पद में विसर्ग है, 'चन्द्रमा'। क्या किया जाए ? प्रथमा-एकवचन के इस रूप से विसर्ग हिन्दी ने छाँट दिए और 'चन्द्रमा' को अपना प्रातिपदिक वनाया। नभस् , पयस् , यशस् जैसे व्यजनान्त शब्द पसन्द नही और प्रथमा-एकवचन मे विसर्ग है—नभ , पय , यश । इन के विसर्ग छाँट दिए और 'अपने' प्रातिपदिक—नभ, पय, यश। आप कह सकते है कि प्रातिपदिको के ही अन्त्य व्यजन (स्) को उडा कर 'नभ' जैसे प्रातिपदिक सभव है, तव 'नभ' आदि तक जाने की क्या जरूरत ? ऐसा ही सही। 'स्' को हटा कर ही 'नभ'

आदि सही। बात तो केवल इतनी कि अन्त में व्यंजन या विसर्ग न चाहिए। परन्तु हम ने जो 'नभः' आदि पदों के विसर्ग हटा कर 'नभ' जैसे प्रातिपदिकों का निर्माण बताया, उसमें 'राजा' 'पिता' 'शर्मा' 'वर्मा' 'चन्द्रमा' आदि के लिए स्वीकृत पद्धति का ध्यान है। एक नियम बना लिया—प्रथमा एक-वचन का रूप, हिन्दी का प्रातिपदिक। यदि 'नभस्' आदि प्रातिपदिकों के 'स्' को हटा कर 'नभ' आदि प्रातिपदिक माने जाएं, तो संस्कृत प्रातिपदिक 'चन्द्रमस्' भी इसी श्रेणी में आए गा और हिन्दी में 'चन्द्रम' प्रातिपदिक है नहीं, 'चन्द्रमा' है। तब 'नभस्' आदि के भी 'नभः' आदि पद ही विसर्ग-रहित हो कर हिन्दी के 'नभ' जैसे प्रातिपदिक बने, यह कहना अधिक युक्तियुक्त है।

खैर, कुछ भी हो, हिन्दी में स-कारान्त, विसर्गान्त तथा व्यंजनान्त प्रातिपदिक नहीं हैं, न धातु ही वैसे हैं। सब स्वरान्त। बड़ी सुविधा-सरलता है। संस्कृत के 'प्रायः' आदि अव्यय राष्ट्रभाषा में चलते हैं—तद्रूप-तत्सम। हम 'अपने' या तद्भव शब्दों का जिक्र ऊपर कर रहे थे। संस्कृत 'समस्त' शब्द 'मनःस्थिति' आदि भी हिन्दी में तद्रूप चलते हैं, पर 'मनः' प्रातिपदिक न चले गा। 'मन को समझाओ' की जगह 'मनः को (या मानस् को) समझाओ' न हो गा। जो बात प्राति-पदिकों के सम्बन्ध में है, वही धातुओं के सम्बन्ध में भी। सब स्वरान्त।

इसी तरह हिन्दी ने अत्यधिक समास का बखेड़ा नहीं रखा है। 'निरपॅन' जैसे दो शब्दों के ही समास देखे जाते हैं, अधिक

के नही। 'व्रजनवतरुनितमालमुकटमनि राधा आजु बनी' जैसी जगह सस्कृत 'समस्त' पद की तद्भवता समझनी चाहिए। सो भी पद्य में। बोलचाल में दो शब्दो से ज्यादा का बन्धन एक जगह प्राय न मिले गा।

यही स्थिति सन्धि के सम्बन्ध मे है। सन्धि करने-कराने की झझट भी यहाँ वैसी नही। हिन्दी के अब+ही='अभी' और 'इस+ही='इसी' आदि सन्धि-युक्त पद ऐसे प्रचलित है कि सन्धि की ओर ध्यान ही नही जाता। सन् १९४२ से पहले हिन्दी के व्याकरणो में भी इस तरह के सन्धि-प्रयोगो की चर्चा न थी। मै ने व्रजभाषा-व्याकरण मे इस की चर्चा की, तब से लोग लिखने लगे। कहने का मतलब यह कि हिन्दी के जो शब्द सन्धि कर के स्वत वैसे बन गए है, उनके अतिरिक्त अन्यत्र सन्धि-बन्धन नही। इसी लिए यहाँ 'सुअवसर' जैसे शब्द चलते है। 'प्रत्युत्तर' जैसे शब्द सस्कृत से बने-बनाए आए है और उसी रूप मे चलते है। सो, हिन्दी स्वत बहुत सरल भाषा है। इस का यह सरल रूप मेरे व्याकरण से अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है। यहाँ अधिक चर्चा न करके हम शब्द-रूपो पर और प्रयोगो पर आगे विचार करे गे।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी के अपने शब्द

हिन्दी के जो मूल शब्द प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से ऐसे आए हैं, जिन का अता-पता संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता और जिन के मूल रूप वैदिक साहित्य में भी नहीं मिलते, वे उस मूल भाषा से (विभिन्न प्राकृतों में होते हुए) आए हैं, जिस की एक शाखा वैदिक संस्कृत है। लोकभाषा के बहुत से शब्द साहित्यिक भाषा में नहीं गृहीत होते। परन्तु जनता में वे बराबर चलते रहते हैं। साहित्यिक-प्राकृत में भी बहुत से जनता-गृहीत शब्द नहीं आ पाए हैं, परन्तु बोलचाल के प्रवाह में लुटकते-पुढ़कते हिन्दी तक पहुँचे हैं। ऐसे ही परम्परा-प्राप्त शब्द हिन्दी के 'अपने' हैं, और संस्कृत शब्दों में जिन का अता-पता मिलता है, वे 'तद्भव' कहलाते हैं— जैसे पत्र>'पत्ता' और पृष्ठ>'पीठ' आदि। संस्कृत 'पत्र' से 'पत्ता' बना, कहा जाता है। पर यह भी संभव है कि मूल भाषा में कोई ऐसा शब्द हो, जो (तद्रूप) संस्कृत साहित्य में नहीं लिया गया और जिस का रूपान्तर ही 'पत्र' शब्द हो, और उसी (मूल) शब्द से हिन्दी का 'पत्ता' बना हो। जो भी हो, संस्कृत में जिन शब्दों के मिलते-जुलते रूप उपलब्ध हैं, वे सब यहाँ 'तद्भव' कहे जाते हैं। इस प्रकरण में हम हिन्दी के उन्हीं 'अपने' शब्दों पर विचार करेंगे।

'विद्याएँ-'विद्यायें'

इस तरह आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दो के वहुवचन रूप द्विधा चल रहे है। हमे सोच कर निर्णय करना है कि ये दोनो शब्द शुद्ध है, या इन में से कोई एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध है। हिन्दी की प्रकृति ऐसी है कि एक ही अर्थ मे कोई द्विरूप शब्द सभव नही। हाँ, किसी वर्ण का लोप हो कर कही द्विरूपता आ जाए, विकल्पत दो रूप शुद्ध माने जाएँ, यह दूसरी वात है। आगे 'गयी'-'गई' विचार करते समय यह वात स्पष्ट की जाए गी कि ये दोनो रूप ('गयी'-'गई' और 'गये'-'गए') वैकल्पिक है। दोनो शुद्ध है। अव यह जन-प्रवृत्ति पर अवलम्वित है कि वह दोनो को रखे, या उन में से किसी एक को रख कर दूसरे को छोड दे।

परन्तु 'लताएँ'—'लताये' जैसे शब्दो पर विचार करने पर जान पडता है कि यहाँ 'लताये' जैसे रूप एकदम गलत है, जो अविचारित रूप से चल रहे है। भाषा की प्रकृति-प्रवृत्ति और व्याकरण से निर्णय करना है। हिन्दी की प्रकृति यथा-श्रुत लिखने की है। 'लतायें' में जो 'य्' आ कूदा है, उस की कोई स्थिति नही। भारत में जैसे विदेशी शासक आ कूदे थे, उसी तरह ऐसे शब्दो में 'य्' आ गया है। इसे निकाल देने से शब्द शुद्ध हो जाए गा। 'य्' ने जबर्दस्ती की है, किसी के घर में आ जमने की। वह दबा हुआ है। उस की कोई आवाज नही। बालको को श्रुतलेख लिखाते समय ऐसा कोई वाक्य बोलिए, जिस मे 'लताएँ' 'विद्याएँ' जैसा कोई शब्द आए और आप फिर इस 'एँ' को 'यें' कर के बोलिए। खूब सावधानी

से बोलिए कि बालक यहाँ 'य्' सुन-समझ ले। पर इतना करने पर भी आप देखेंगे कि बालकों ने 'लताएँ'–'विद्याएँ' जैसे रूप ही लिखे हैं। यानी ये प्रकृत रूप हैं। अब आप उनके 'लताएँ'–'विद्याएँ' आदि काट कर 'लतायें'-'विद्यायें' लिख दें और बता दें कि 'लताएँ' जैसे रूप गलत हैं, तब बेचारे 'लतायें' लिखने लगेंगे! यों भाषा विकृत होती है। रोग उतने न फैले-बढ़ें, यदि 'नीम हकीम' बीच में न आ कूदें। भाषा अपने प्रवाह में चलती है। जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है, यह हिन्दी की सामान्य पद्धति है। ऐसे शब्दों में—'लताएँ' आदि पदों में—'एँ' विभक्ति है, जो आकारान्त तथा अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के बहुवचन में लगती है। जब अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द में 'एँ' लगती है, तब प्रकृति के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है और व्यंजन आगे 'एँ' से जा मिलता है—टिकटें, चिटें, रेलें, पुस्तकें आदि। यानी 'अपने' और विदेशी भाषाओं से आए हुए तथा संस्कृत तत्सम, सभी अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के लिए हिन्दी में यह सामान्य पद्धति है। इस पद्धति का अनुसरण करने में कभी-कभी लोग गलती कर जाते हैं, जब व्याकरण का अति ध्यान रखते हैं! हिन्दी में बोला जाता है—'इन्द्रियां जिस के वश में नहीं रहतीं, वह भी कोई मनुष्य है?' पर व्याकरण का अति ध्यान रखने वाले सोचते हैं कि 'इन्द्रिय' का बहुवचन-रूप तो 'इन्द्रियें' होना चाहिए, जैसे 'पुस्तकें'। 'इन्द्रियां' तो व्याकरण से गलत है। ऐसा सोच कर वे 'इन्द्रियें' लिख कर उदाहरणस्वरूप बनते हैं! उन्हें सोचना चाहिए कि सर्वत्र

अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दो के आगे बहुवचन 'एँ' विभक्ति आती है, पर 'इन्द्रियाँ' इस पद्धति पर नही है, तो कोई कारण हो गा। भाषा का प्रवाह कोई बदल नही सकता। हजार प्रयत्न करने पर भी 'इन्द्रिये' आप जनता से नही बुलवा सकते। सोचना यह चाहिए कि आखिर यह 'इन्द्रियाँ' प्रयोग चला कैसे' जब कि अन्यत्र 'एँ' है—'पुस्तके' 'टिकटे' आदि। 'टिकट' जहाँ पुल्लिङ्ग बोलते है, वहाँ 'एँ' न लगे गा। इस तरह यदि कोई 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग पुल्लिङ्ग मे करे, तो बहुवचन मे 'इन्द्रिय' ही रहे गा, कोई विभक्ति सामने न आए गी—'बालक आया'-'बालक आए'। प्रयोग हो गा तब—'इन्द्रिय हमारे प्रबल है'। स्त्रीलिङ्ग में 'इन्द्रियाँ' चलता है। यह क्या बात है ? क्या व्याकरण के उस नियम का अपवाद है ?

नही, किसी नियम का कोई अपवाद नही है। 'इन्द्रिय' शब्द का तद्भव रूप 'इन्द्री' हिन्दी मे बन गया। 'य' को 'इ' हो गया, जिसे पाणिनीय व्याकरण मे 'सम्प्रसारण' कहते है और दोनो इकारो मे सवर्ण-दीर्घ सन्धि—'इन्द्री'। इस 'इन्द्री' शब्द का एकवचन मे प्रयोग ('सधुक्कडी' भाषा में) पुमिन्द्रिय के लिए होता है और सब इन्द्रियो के लिए बहुवचन—'इन्द्रियाँ'। नदी-नदियाँ, टोपी-टोपियाँ और इन्द्री-इन्द्रियाँ। 'इन्द्रियो से' जैसे प्रयोग 'इन्द्रिय' के भी हो सकते है, यह अलग बात है। यहाँ तत्सम-तद्भव चाहे जिस रूप से समझ लें। परन्तु 'इन्द्रियाँ' तद्भव शब्द का रूप है।

सो, 'टिकटें' 'पुस्तकें' 'दाढें' 'मेखें' आदि मे 'एँ' विभक्ति है, 'यें' नही। यदि विभक्ति 'एँ' न हो कर 'ये' होती, तो

'टिकट्ये' 'पुस्तक्ये' 'रेल्ये' जैसे शब्द रूप सामने आते। देखे कहीं ? सर्वत्र 'टिकटें' 'पुस्तकें' आदि हैं। यानी विभक्ति है 'एँ'। इसे आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भूल से 'ये' लिखने लगे। 'ये' लिखने में न कोई तुक है, न तान। भाषा की प्रकृति, व्याकरण, प्रवाह तथा भाषा-विज्ञान से 'एँ' की पुष्टि होती है। इस लिए—

'लताएँ' जैसे प्रयोग शुद्ध हैं।

और—

'लतायें' जैसे प्रयोग गलत हैं।

'लतायें' की ही तरह किसी समय 'बाबुओं का काम' को 'बाबुवों' का काम लिखा जाता था, जो अब समाप्त हो गया। 'बाबुवों' का 'व्' चला गया, 'लतायें' से 'य्' भी भागने वाला है। 'सदाखलत बेजा' तभी तक समझिए, जब तक लोग बे-खबर हैं।

(२)

'बैठिए'—'बैठिये'

हिन्दी में 'बैठिए'-'बैठिये', 'चलिए'-'चलिये' आदि द्विविध रूप चल रहे हैं। यहाँ भी 'य्' उसी तरह आ कूदा है। शुद्ध रूप हैं—बैठिए, उठिए, पढ़िए, चलिए आदि। 'बैठिये' आदि गलत हैं।

संस्कृत में 'त्वया ग्रन्थः पठनीयः', 'कार्यं करणीयम्', 'भवनं दर्शनीयम्' आदि प्रयोग होते हैं। यहाँ 'अनीय' प्रत्यय है। सूर ने ब्रजभाषा में—'कितनी गनी ऊधौ करनी' और 'पुनि पानी आगे धरनी' जैसे प्रयोग किए हैं। संस्कृत में 'पठनीय'

आदि मे जो 'अनीय' है, उस का 'नी' मात्र यहाँ ले लिया गया है। अवधी आदि मे 'पठनीय' आदि से 'ईय' मात्र ले कर 'इय' कर लिया गया—'बैठिय' 'कीजिय' आदि। इसी तरह 'चाहिय' है—'चाहिय जहाँ रिसिन कर वासा'। 'खडी बोली' में 'बैठिय' आदि का 'य' 'ए' बन कर आया है। 'य' कभी 'इ'-'ई' और कभी 'ए' के रूप मे आ जाता है। सो, 'उठिय' 'बैठिय' अवधी आदि में और 'उठिए'-'बैठिए' राष्ट्र-भाषा मे। 'उठिये'-'बैठिये' सकर-प्रयोग गलत है। जब 'य' बन गया 'ए' तब 'उठिए' ही तो रहे गा न ! फिर 'य्' कहाँ रहा ? यह तो हो नही सकता कि 'य' 'ए' भी बन जाए और ,य' भी बना रहे ! जिस दूध का दही बन गया, वह फिर क्या दूध के रूप में भी बना रहेगा ?

सो, उठिए, बैठिए, लीजिए, कीजिए आदि प्रयोग शुद्ध है। अवधी में 'इय' प्रत्यय है और राष्ट्रभाषा मे 'इए' है—'कीजिय' 'कीजिए'। सूर ने भविष्यत्-सवलित प्रार्थना में 'करनी' आदि प्रयोग किए है। हिन्दी मे ऐसी जगह उसका प्रयोग किया जाता है—'कीजिए गा' 'दीजिए गा' आदि। यानी ऐसी प्रार्थना, जो भविष्यत् में क्रियात्मक रूप ग्रहण करे गी।

इस प्रसग मे मजेदार बात यह देखिए कि हिन्दी का गठन कितना वैज्ञानिक है ! जब क्रिया की निष्पत्ति मे कोई शका नही, क्रिया-निष्पत्ति निश्चित है, तब मुख्य धातु का कृदन्त प्रयोग होता है—'राम पढता है' 'राम ने पुस्तक पढी, पढ ली' आदि। सस्कृत में 'कृदन्त' को 'सिद्ध-भाव' कहते है और 'तिडन्त' को 'साध्य-भाव'। हिन्दी ने 'सिद्ध' तथा 'साध्य'

शब्दों को पूर्णत अन्वर्थ कर दिया। वर्तमान तो सामने ही है, क्रिया की निष्पत्ति स्पष्ट है, इस लिए कृदन्त प्रयोग—लड़का पढ़ता है, लड़की पढ़ती है। कृदन्त क्रिया कर्ता या कर्म के अनुसार रूप बदलती है, यदि भाववाच्य न हो। इसी तरह भूतकाल में—लड़के ने ग्रन्थ पढ़ा, लड़की ने ग्रन्थ पढ़ा। 'पढ़ा' कृदन्त क्रिया है, कर्म (ग्रन्थ) के अनुसार। वर्तमान तथा भूतकाल में क्रिया की निष्पत्ति असन्दिग्ध है, इसी लिए 'सिद्ध भाव' (कृदन्त) का प्रयोग। परन्तु विधि, प्रार्थना, आज्ञा आदि में क्रिया की निष्पत्ति असन्दिग्ध नहीं। 'तू जा' कहा। अब जाना-न-जाना तो दूसरे पर है। इसी लिए (साध्य भाव) तिङन्त क्रिया—पु-स्त्री० में समान रूप। प्रार्थना, आशीर्वाद आदि भी इसी कोटि में हैं। इसी लिए तिङन्त क्रियाएँ—उठिए, बैठिए, वह सौ वर्ष जिए आदि तिङन्त प्रयोग। संस्कृत का 'अनीय' प्रत्यय कृदन्त है, पर हिन्दी का 'इए' तिङन्त है। तिङन्त-पद्धति क्रिया-निष्पत्ति की सन्दिग्धता के कारण। यदि क्रिया की निष्पत्ति निश्चयात्मक हो, तब फिर 'गा' लगा देते हैं—'राम पुस्तक पढ़ेगा—लड़की पुस्तक पढ़ेगी'। 'गा' एक तरह की कृदन्त चीज है, जहां 'भाव' सिद्ध होता है। 'भाव' माने 'क्रिया'। हिन्दी की क्रियाएँ सिद्धावस्था में कृदन्त और साध्यावस्था में तिङन्त।

सो, 'इए' हिन्दी की तिङन्त चीज है। 'चाहिय' का 'य' पूरब में 'इ' बन जाता है और सवर्ण दीर्घ हो कर—'चाही'। 'तुम्हें धन न चाही'। राष्ट्रभाषा में 'य' 'ए' बन जाता है, मानो 'इय' का 'इए' हो जाता है—'चाहिए'।

2

स्पष्ट हुआ कि विधि-प्रार्थना आदि में 'इए' प्रत्यय है—उठिए, बैठिए, चाहिए आदि। भविष्यत् प्रकट करने के लिए 'गा' आगे लगा देते है—'उठिए गा' 'कीजिए गा' आदि। यदि विधि-प्रार्थना आदि न हो और भविष्यत् मे क्रिया-सिद्धि निश्चित हो, तब 'इए' न लग कर 'इ' प्रत्यय लगे गा, 'गा' के साथ—'उठे गा', 'उठे गी' और 'पढे गा', 'पढे गी' आदि। धातु के अन्त्य 'अ' तथा प्रत्यय 'इ' मे 'गुण'-सन्धि। यदि धातु अकारान्त नही, तो फिर यह 'इ' ही 'ए' बन जाती है। 'जा' धातु, 'जाए गा' क्रिया। 'जाये गा' गलत प्रयोग है। विधि आदि मे भी—'राम जाए' 'वह आए' आदि। प्रार्थना मे भी—'आप आएँ, जाएँ, लाएँ' आदि। यानी उस 'इए' से यह 'इ'>'ए' भिन्न चीज है। कीजिए, दीजिए, जाइए, आइए आदि में 'इए' तिङन्त प्रत्यय है और करे, दे, जाएँ, 'आएँ आदि में 'इ'>'ए'। बहुवचन मे 'इ'–'एँ'—करे–करें, जाए–जाएँ।

इस तरह सिद्ध हुआ कि—

कीजिए, सोइए और करे, सोए, जैसे प्रयोग शुद्ध है। गलत प्रयोग है—

कीजिये, सोइये, लडका सोये आदि।

इसी तरह भविष्यत् प्रार्थना में शुद्ध है—

कीजिए गा, दीजिए गा, जाइए गा आदि।

अशुद्ध है—

कीजिये गा, दीजिये गा, जाइये गा आदि।

भविष्यत् काल मे शुद्ध है—

राम जाए गा, सोए गा, धोए गा।

और अशुद्ध है—

'जाये गा' '-जावे गा' 'सोये गा' 'धोये गा' आदि।

'पीजिये' आदि की तरह 'पीजिये गा' आदि भी गलत हैं। 'ज्' विकरणरूप में यहाँ है—प्रकृति ('पी' धातु) तथा प्रत्यय ('इए') के बीच में सहायक। ईकारान्त 'पी' आदि धातुओं में तथा 'ले' 'दे' आदि एकस्वर अन्य धातुओं में यह विकरण आता है। 'इए' सदा एकरस। सारांश सब का यह कि ऐसे सब स्थलों में 'य्' से युक्त रूप गलत हैं और स्वरमात्र 'ए' तथा 'इए' से शुद्ध हैं। अधिक विवेचन आवश्यक नहीं। अधिक के लिए 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' देखना चाहिए।

कुछ शंकाएँ और उनके समाधान

पूर्व विवेचन से स्पष्ट हुआ कि जो कृदन्त प्रत्यय अवधी में 'इय' है और धातुओं में लग कर 'उठिय' 'कीजिय' 'चाहिय' आदि रूप बनाता है, वही राष्ट्रभाषा में 'इए' हो कर 'उठिए' 'कीजिए' 'चाहिए' आदि रूप बनाता है। यानी 'य' को 'ए' हो जाता है। और पूरब में 'य' को 'ई' हो जाता है— 'तुम्हें अस न चाही'। सो, 'चाहिय' अवधी में और 'चाहिए' राष्ट्रभाषा में शुद्ध पद है। 'चाहिये' गलत है और इसी तरह 'कीजिये' आदि भी।

यहाँ एक शंका सनातनियों को हो सकती है। वे कहें गे कि हिन्दी में 'इ' तथा 'ई' को प्रायः 'इय्' होते देखा गया है— 'नदी'+इया (स्वार्थिक प्रत्य०)='नदिया' और 'नदी'+आँ (बहु० विभक्ति)='नदियाँ'। इसी तरह 'पी' (धातु)+ओ

(धातु–विभक्ति)=पियो। 'इय्' वैकल्पिक यहाँ है, इस लिए 'पीओ' भी। इसी तरह 'जियो'–'जीओ' जैसे द्विविध प्रयोग चलते हे। जब 'पियो' आदि गलत नही, तब 'कीजिए'–'कीजिये' और 'चाहिए'–'चाहिये' जैसे द्विरूप शब्दो पर वैसा विवेचन कर के 'इय्' के रूप क्यों गलत कहे जाएँ? यहाँ वैकल्पिक 'इय्' जान पडता है। ह्रस्व 'इ' को भी 'इय्' होता है—सन्धि–सन्धियाँ, विधि–विधियाँ आदि।

शका ठीक है। 'इ'-'ई' को 'इय्' होता है, पर तभी, जब 'इ' 'ई' प्रकृतिगत हो और दूसरा स्वर प्रत्यय-गत हो। यदि ऐसा नही, तव 'इय्' न हो गा। 'जिया' 'पिया' आदि क्रियापदो में 'ई' को 'इय्' नही हुआ है, भूतकालिक 'य्' प्रत्यय में हिन्दी की पुंविभक्ति ('आ') लगी है और धातु-स्वर ह्रस्व हो गया है। 'आ' भूतकालिक प्रत्यय नही है कि 'इय्' की कल्पना की जाए। 'सोया', 'रोया' तथा 'आया' आदि प्रयोग देखिए। यहाँ धातु में न 'इ' है, न 'ई' है। 'ओ' और 'आ' धात्वन्त स्वर हे, जो भूतकाल के पदों मे भी दिखाई दे रहे हैं। यही स्थिति 'उव्' की है। 'बाबू' से 'आ' स्नेहार्थक प्रत्यय होने पर 'बबुवा' रूप बना और फिर 'उव्' का 'व्' लुप्त हो गया—'बबुआ'। 'बबुवा' बोलने मे सुगमता नही है, इस लिए 'व्' का लोप। 'उ' के अनन्तर 'व्' का उच्चारण भला नहीं लगता। इसी लिए 'ओ' विकरण सामने होने पर भी 'व्' लुप्त हो जाता है—'बाबुओ को'। 'इय्' का 'य्' बना रहता है—'नदियों को'। यदि दोनो अश प्रकृति में ही हों, या प्रत्यय में ही, तब 'इय्'–'उव्' नही होता। 'आई'

एक प्रत्यय है—'सुघराई' 'चतुराई' आदि भाववाचक संज्ञाएँ बनाता है। यहाँ 'आ'+'ई' न तो 'ए' हुए और न 'आ' से परे 'ई' को ही 'ए' रूप मिला। इसी तरह 'इए' प्रत्यय में जो 'इ' है, उसे आगे के 'ए' के कारण 'इय्' न हो गा—हो नहीं सकता। 'इ' और 'ए' एक ही प्रत्यय में हैं।

सो, 'इय्' की कोई सम्भावना यहाँ नहीं। फलत 'चाहिये' 'कीजिये' आदि रूप एकदम गलत हैं।

× × ×

कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि 'जाय' और 'जाय गा' जैसे रूप क्यों गलत हैं? 'इ' विभक्ति जो यहाँ है, उसे 'य' हो गया समझना चाहिए। 'इ' को 'य' होता देखा ही जाता है। हाँ, 'आये गा' 'राम आये' आदि जरूर गलत, क्योंकि यह सम्भव नहीं कि 'इ' को 'य' भी हो जाए और 'ए' भी हो जाए। सेर भर दूध का पाव भर खोया भी बन जाए और साढ़े तीन पाव दही भी बन जाए, यह असम्भव है। सो, 'जाय गा' और विधि-सम्भावना आदि का 'जाय' रूप गलत कैसे?

इस तरह 'जाय गा' तथा 'राम जाय' आदि गलत हैं। कुछ विस्तार से बताना हो गा। 'जाय गा' बोलते हैं, सही; परन्तु अन्य क्रियापदों में कहीं कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती। कोई 'आय गा' बोलता है? 'राम सोए' की जगह कोई 'राम सोय', 'नहाय कपड़े धोय' जैसे प्रयोग करता है क्या? सब जगह 'ए' श्रुत है। सो, 'जाय गा' तथा 'राम जाय' जैसे प्रयोग परित्याज्य हैं—हिन्दी से खारिज हैं। असल

'जाय गा' जैसे प्रयोग चल पडे, जो उर्दू वालो की मेहरवानी है। भापा का स्वरूप-विवेचन तो अव हो रहा है। उर्दू मे 'ए' का हलका उच्चारण और फिर 'य'। व्रजभापा मे 'जाइ गो' वोलते है, 'जाय गो' भी। 'इ' को वैकल्पिक 'य'। यही 'जाय गो' उर्दू-हिन्दी मे 'जाय गा' हो गया है और जाइ>'जाय' भी आ गया है। परन्तु 'सोय गा', 'सोय' जैसे प्रयोग अन्य धातुओ के कही भी श्रुत नही, इस लिए 'जायगा' आदि राप्ट्रभापामे गलती से आए समझिए। ऐसी ही जगह व्याकरण का शासन सामने आता है। उर्दू वाले 'लिखा'–'लिखी' को 'लिक्खा'–'लिक्खी' भी वोलते है। हिन्दी मे 'लिक्खा'–'लिक्खी' तो नही, पर (उर्दू का) 'रक्खा'–'रक्खी' आ गया था। सन् १९२५ तक हिन्दी-साहित्य में भी 'रक्खा'–'रक्खी' चलता था। परन्तु जव समझाया गया कि "यहाँ 'क्' जवर्दस्ती आ कूदा है और अनावश्यक है—'लिखा'–'लिखी' आदि में वह है भी नही। धातु 'लिख' है, जिस का भूतकालिक रूप 'लिखा'–'लिखी'। उसी तरह धातु 'रख' है, जिस के भूतकालिक रूप 'रखा'–'रखी' है। यदि धातु 'रक्ख' होती, 'रक्खता है' क्रियापद होते, तब 'रक्खा'–'रक्खी' ठीक कहे जाते।" इस तरह व्याकरण के अकुश ने सब ठीक कर दिया। अव 'लिखा'–'लिखी' की तरह 'रखा'–'रखी' सव लिखते है, यद्यपि वोलते अव भी 'क्' के साथ ही है। परन्तु वोलने की भाषा में वैसा व्याकरण-विचार नही किया जाता, जैसा कि साहित्यिक भाषा में। लिखी हुई चीज देश-काल की परिधि लाँघ कर वहुत दूर तक जाती है। यदि एकरूपता न हो, तो समझने मे गडवडी

पड़े। 'रक्खा' रूप जारी रहता और आज इसे देख कर रूसी या अन्य किसी देश के लोग "मैं जब हिन्दी लिक्खता हूँ" ऐसे प्रयोग करता, तब आप क्या कह कर मना करते? बोलने में आप 'क्' जोड़ते रहिए, साहित्य को कोई क्षति नहीं। ब्रज में 'है' को 'ऐ' बोलते हैं और 'हैं' को 'ऐं'। परन्तु ब्रजभाषा-साहित्य में आप को कहीं 'ऐ'–'ऐं' क्रियाएँ मिलीं? सूर आदि सभी ब्रजभाषा-कवियों ने 'है'–'हैं' प्रयोग किए हैं। दूर तक समझने में सरलता। यदि ब्रजभाषा-साहित्य में 'ऐ'–'ऐं' क्रिया-पद चलते, तो कैसा रहता? इसी तरह 'जाय गा' आप बोलते हैं, तो बोलते रहिए, कोई हर्ज नहीं, परन्तु लिखना हो गा—'जाए गा', 'राम जाए'। बंगाली बन्धु बोलने में 'अ' को कहीं-कहीं 'ओ' जैसा बोलते हैं—'जोल पिबामि' जैसा। परन्तु लिखते हैं—'जल पिबामि'। यदि वे अपने उच्चारण के अनुसार लिखते और काश्मीरी, दाक्षिणात्य तथा अन्य लोग अपने उच्चारण के अनुसार, तो संस्कृत भाषा क्या बन जाती? कौन उसे समझता? मेरठ डिवीजन में बोलते हैं—'गिन्ठी ठा ला'। परन्तु लिखते हैं—'अँगीठी उठा ला'। यदि वे अपने उच्चारण के अनुसार लिखते, तो आप क्या कहते? गलत कहते कि नहीं? मेरठ में तथा काशी में भी 'है' का उच्चारण 'ह' जैसा (कुछ झटके के साथ) होता है, पर लिखते सब 'है' हैं। इस से भाषा में एकरूपता आई है। काशी के इधर-उधर बोलते हैं—'राम को लड़का हुआ'। परन्तु लिखते सब हैं—'राम के लड़का हुआ'—'मट गलानि मोरे गुन नाहीं'। 'मोहि' या 'मोहीं' तुलसी ने नहीं लिखा,

यद्यपि काशी उन का निवास-स्थान था। सो, बोलिए चाहे जो, लिखिए शुद्ध---'जाए, जाए गा'।

उच्चारण-साम्य से 'जाइ गो'>'जाय गो' और उस से प्रभावित 'जाय गा' चल पडा था। अब एकरूपता के लिए भाषा की प्रकृति-प्रवृत्ति पर विचार आवश्यक है।

'आये गा'--'राम आये' जैसी जगह 'य' कैसे आ कूदा? लोगो ने 'आया' का बहुवचन 'आये' देखा, जो प्रमाण-प्राप्त है। उसी पद्धति पर विधि आदि में भी 'आये' और भविष्यत् मे भी 'आये गा'! भूत और भविष्यत् को एक कर दिया! भविष्यत् प्रकट करने वाला प्रत्यय 'इ' है, 'य' नही है---'पढे गा', 'जाए गा' आदि। परन्तु हिन्दी का कोई व्याकरण तो था नही! फलत 'आये गा'--'राम आये' जैसे प्रयोग चल पडे।

× × ×

आप कहें गे कि 'राम आये', 'आये गा' जैसे प्रयोग गलत सही, क्योकि 'य' भूतकाल का प्रत्यय है और 'लडके आये' जैसे प्रयोग देख कर अज्ञानवश 'राम आये'--'आये गा' जैसे पद भी चले। परन्तु 'राम आवे'--'आवे गा' जैसे प्रयोग भी तो हिन्दी मे चलते है! पहले ऐसे प्रयोग बहुत चलते थे, अब कम हो गए है, पर है, होते है। इस तरह के प्रयोगो के बारे मे क्या राय है?

राय यही कि राष्ट्रभाषा मे 'राम आए'--'आए गा' जैसे प्रयोग ही साधु है और 'राम आये'--'आये गा' आदि की तरह 'आवे'--'आवे गा' आदि भी गलत है। उपपत्ति लीजिए।

'राम आवे'--'आवे गा' जैसे प्रयोग व्रजभाषा के 'आवै'

तथा 'आवै गो' आदि के संसर्ग से आए हैं, राष्ट्रभाषा के 'अपने' नहीं हैं। ब्रज में धातु है 'आव'–'आवत है', 'आवत हैं'। यही 'आव' अवधी आदि में भी है। बुंदेलखण्ड आदि में भी यही है, केवल 'व' को सम्प्रसारण ('उ') हो जाता है— 'आउत है', 'सोउत हैं' आदि। पंजाबी में भी 'आव' ही है— 'मुंडा आवंदा है'। अनुनासिक भर हो गया है, 'व' को 'वं' हो गया है। यों अन्यत्र 'आव' धातु है, जिस के 'आवै गो', 'आवै' आदि रूप बनते हैं। अवधी में भी 'आवहि'–आवइ–आवै आदि। इसी 'आव' का भूतकाल में अवधी का 'आवा' प्रयोग है। परन्तु राष्ट्रभाषा में धातु है—'आ'—'आता है'। इसी 'आ' धातु में विधि-संभावना आदि का 'इ' प्रत्यय लग कर 'ए' हो जाता है—आए–आए गा। यहाँ 'व्' की कोई स्थिति नहीं, कोई बात नहीं। सो, राष्ट्रभाषा में 'आवे'–'आवे गा' जैसे प्रयोग हिन्दी की विभिन्न बोलियों के संसर्ग से आ गए थे, जो अब छूट गए हैं। हिन्दी के अपने प्रयोग 'आए'–'आए गा' आदि ही हैं।

(३)

'गयी–गई' और 'गये–गए' आदि

अब हम 'गयी–गई' और 'गये–गए' आदि पर विचार करेंगे। हिन्दी में 'गयी'–'गई' और 'गये'–'गए' जैसे द्विविध क्रिया-रूप चलते हैं; यद्यपि पुराने साहित्य में 'गई'–'गए' जैसे रूप ही मिलते हैं। जब हिन्दी में व्याकरण की भी कुछ चर्चा चलने लगी, तो लोग 'गये'–'गयी' रूप लिखने लगे, परन्तु

'गए'–'गई' भी चलते रहे, चल रहे है। यहाँ गये, आये, किये, लिये आदि वहुवचन रूप है—गया, आया, किया, लिया क्रियाओं के। सो, 'गये', 'आये' आदि के इन भूतकालिक रूपो मे 'य' प्रमाण-प्राप्त है, 'गया' आदि से आया है। 'उठिये', 'चाहिये', 'राम आये', 'आये गा' आदि मे 'य' की स्थिति ऐसी नही, इस लिए वे गलत और 'गये', 'आये' आदि मे 'य' प्रमाण-प्राप्त है, इस लिए शुद्ध, सही। इसी तरह 'गया–आया' आदि के स्त्रीलिङ्ग रूप 'गयी'–'आयी' आदि में 'य' प्रमाण-प्राप्त है और ये रूप शुद्ध है, सही है।

परन्तु, इस के साथ ही यह भी समझिए कि 'गए'–'गई' आदि रूप गलत नही है, परम शुद्ध है। हिन्दी की पुरानी परम्परा से ये रूप चले आ रहे है। हम परम्परा-प्राप्त गलती छोड सकते है, परन्तु सही चीज कैसे छोडे ? क्यो छोडे ?

'गए'–'गई' आदि रूप क्यो शुद्ध है, सुनिए। हिन्दी में यथाश्रुत लिखने की पद्धति है। 'गये' और 'गयी' आदि क्रियापदो मे 'य्' की श्रुति नही। इसी लिए उस का वैकल्पिक लोप। प्रमाण-प्राप्त 'य' है, इस लिए 'गये'–'गयी' जैसे रूप शुद्ध है और श्रुति न होने से 'य्' का लोप भी स्वाभाविक है, इस लिए 'गई'–'गए' जैसे य्-रहित रूप भी शुद्ध है। श्रुति के अभाव में 'य्' का वैकल्पिक लोप संस्कृत मे भी है—होता है। वहाँ 'हरयिह' इस लिए शुद्ध है कि 'हरे+इह' की वहाँ स्थिति है, 'ए' को 'अय्' हो कर 'हरयिह' बन गया है। परन्तु 'हरयिह' में 'य्' की श्रुति नही, इस लिए उस का वैकल्पिक लोप भी हो जाता है और 'हरइह' प्रयोग भी शुद्ध-संस्कृत है।

इसी तरह हिन्दी के 'गये–'गए' और 'गयी–गई' आदि द्विविध प्रयोग शुद्ध है।

संस्कृत मे और हिन्दी में यो 'य्' का वैकल्पिक लोप स्पष्ट हुआ। परन्तु संस्कृत के वैय्याकरणो ने यह कही भी नहीं लिखा कि यह लोप क्यो होता है। स्पष्ट श्रुति न होने के कारण ही वैसा है, यह अभी बतलाया गया। परन्तु यह भी सोचने की बात है कि आखिर 'गये'–'गयी' आदि मे 'य्' की श्रुति होती क्यो नही? 'गया'–'आया' आदि मे 'य' स्पष्ट क्यो सुनाई देता है? और ब्रजभाषा के 'गयो'–'आयो' आदि में भी वह क्यो नही दबता? इस का एक वैज्ञानिक कारण है। स्वर प्रबल होते है, व्यंजन निर्बल होते है। यदि एक ही वर्ण के स्वर और व्यंजन साथ-साथ हो, तो व्यंजन दब जाता है, भिन्न वर्ण के स्वर के साथ व्यंजन खूब चमकता रहता है। सूरज के सामने तारे मन्द हो जाते है? दब जाते है, लुप्त हो जाते है। भिन्न वर्ण (अन्धकार) के साथ वे खूब चमकते है। इसी तरह 'इ'–'ई' के साथ 'य्' दब कर अदृश्य हो जाता है, उस की कोई आवाज पृथक् नहीं रहती। 'गयी' का 'गई' रूप हो जाता है। जानने वाले जानते है कि 'गई' मे 'य्' का लोप है, क्योंकि यह 'गया' का स्त्रीलिङ्ग रूप है। तारों की स्थिति जैसे सूरज के सामने रहती है। 'इ' का तालु स्थान है, 'ई' का भी। और 'य्' का भी तालु स्थान है। इस लिए यह 'इ–ई' का सवर्ण व्यंजन (य्) दब जाता है लुप्त हो जाता है, प्रबल सवर्ण के साथ। संस्कृत के '[illegible]' का '[illegible]' इसी लिए हुआ और 'गयी'–'आयी'

आदि का 'गई'-'आई' आदि भी इसी लिए। 'ए' मे भी 'इ' विद्यमान है। अ+इ='ए'। 'ए' सयुक्त स्वर है। 'ए' में 'इ' और को न दिखाई दे, पर वेचारे 'य्' को तो साफ दिखाई देती है और इसी लिए उसकी वोलती वन्द हो जाती है! 'गये-आये' आदि में 'य्' श्रुतिहीन होने से लुप्त हो जाता है—'गए-आए' आदि। भेडिया दूसरे को न दिखाई दे, भेड तो देख ही लेती है और दवक जाती है—चुपचाप। यही स्थिति 'ए' को देख कर 'य्' की होती है।

एक प्रासगिक वात। सस्कृत में 'विष्ण विह' का 'विष्ण इह' रूप भी होता है, यानी 'व्' का वैकल्पिक लोप। 'व्' तो 'इ' का सवर्ण नही है, फिर लोप क्यो? सग-साथ का प्रभाव! 'कायर के सग सूर भागिहै, पै भागिहै'। 'य' के साथ रहने का प्रभाव! 'वावुओ को' आदि के ('उव्' के) 'व्' का लोप तो इस लिए भी ठीक है कि 'व्' की स्थिति 'उ' तया 'ओ' के बीच मे निर्बल रहे गी। 'वु' तथा 'वो' में 'व्' की श्रुति स्पष्ट नही। फिर 'वावुओ' का 'व्' तो 'उ' और 'ओ' के बीच मे पड गया था। कैसे वचता? दो पाटो के बीच में! 'गयी' में तो 'अ' पूर्व मे है, इस लिए वैकल्पिक लोप, परन्तु **की, ली, पी** आदि देखिए।

यहाँ 'य्' का वैकल्पिक नही, नित्य लोप है। दो पाटो के बीच मे 'य' पड कर पिस गया है। 'की' के साथ वैकल्पिक प्रयोग 'कियी' नही होता, न 'ली' के साथ 'लियी' और न 'पी' के साथ 'पियी' ही। 'किय' सस्कृत 'कृत' का विकास है। उसी में पुविभक्ति लगा कर 'किया'। व्रज की 'ओ'

पुंविभक्ति लग कर 'कियो' रूप। इसी 'य' को फिर भूतकाल का प्रत्यय मान कर 'सोया' 'धोया' आदि रूप। अब 'किय' या 'किया' के आगे स्त्री-प्रत्यय 'ई' आया, तो 'कि या ई' स्थिति हुई। 'या' लाठी (ा) लिए है, पर करे क्या? दो प्रबल सवर्णों के बीच में है—एकदम खो गया! 'इ'–'ई' मिल कर सवर्ण दीर्घ—'की'। इसी तरह 'लिया+ई='ली' और पिया+ई='पी' आदि समझिए। यानी 'गयी'–'गये' आदि के य् का वैकल्पिक लोप, क्योंकि पूर्व में असवर्ण स्वर है और 'की' 'ली' 'पी' आदि 'य्' का नित्य कर के, क्योंकि यहाँ आगे-पीछे दोनों ओर 'य्' के सवर्ण स्वर।

स्त्रीलिङ्ग 'आई' आदि का प्रभाव दूर-दूर तक है। व्रज में भी 'आई' होता है, यद्यपि वहाँ धातु 'आव' है। 'आव' धातु का भूतकाल में व्रज में 'आवो' प्रयोग नहीं होता, न 'आवयो' ही होता है। 'सो' धातु का राष्ट्रभाषा में 'सोया' भूतकाल और व्रज में 'सोयो', यद्यपि व्रज में धातु 'सो' नहीं, 'सोव' है—'सोवन–सोवनि'। यानी 'य' प्रत्यय परे होने पर व्रज में 'व' का लोप—आवन–'आयो', सोवन–'सोयो' आदि। यह 'सोया'–'आया' का प्रभाव। मतलब यह कि 'व' आदि का लोप अन्यथा भी होता है। 'आवयो'–'सोवयो' जैसे लम्बे और भद्दे पद पसन्द नहीं किए गए, इस लिए 'व' का लोप कर के 'आयो' 'सोयो' आदि। स्त्रीलिङ्ग में 'आई' आदि व्रज में भी। यानी 'आव' के 'व' का लोप 'ई' परे होने पर भी। अवधी में 'आव' के आगे 'अ' भूतकालिक प्रत्यय लग कर 'आवा' जैसे प्रयोग होते हैं; पर स्त्रीलिङ्ग में 'आवी'

नही, 'आई' वहाँ भी। मतलव यह कि 'व' का लोप अन्य कारणो से भी होता है। 'आवी' कही नही, सर्वत्र 'आई', यद्यपि धातु है 'आव'। 'आवा' का वहुवचन 'आए' होता है, 'आवे' नही। राष्ट्रभाषा मे 'आए'–'आई' और व्रज तथा अवधी में भी 'आए'–'आई' समान प्रयोग। पु० एकवचन में 'आया' 'आयो' 'आवा' अलग-अलग।

सारांश यह निकला कि 'य' तथा 'व' का कही वैकल्पिक और कही नित्य लोप भाषा में हो जाता है। इस लिए हिन्दी मे गयी–गई और गये–गए जैसे दोनो तरह के प्रयोग शुद्ध है।

परन्तु यदि एकरूपता अपेक्षित हो, य-सहित या य-रहित रूपो मे से किसी एक ही श्रेणी को रखना हो, तो फिर य-लोप वाले रूप ही रखने हो गे—'गई–गए' आदि। पुराने साहित्य मे ऐसे ही रूप है और आज भी 'की' 'ली' 'पी' आदि में 'य' का नित्य लोप स्पष्ट है। 'गयी–गये' आदि ही रखने का आग्रह और 'गई–गए' छोड देने का रुख सफल न हो गा, क्योकि 'कियी' 'लियी' 'पियी' न कोई बोले गा, न लिखे गा। गगा को भगीरथ नीचे लाए, या कैसे आई, जो भी हो, पर आ गई। अव कोई भी भगीरथ इन्हें ऊपर हिमालय पर उलटे नही चढा सकता। इसी तरह 'की' 'ली' 'पी' को कोई 'कियी' 'लियी' 'पियी' नही कर सकता। तब 'गयी–गये' जैसे रूप भाषा में एकरूपता कैसे लाएँ गे? हम 'गयी'–'गये' को गलत नही कह रहे है, पर 'गई–गए' को भी शुद्ध कह रहे है। लेकिन दो मे से एक ही रूप रखना हो, तो य-लोप वाला ही रूप रहे गा।

यों, 'राम आये'-'आये गा' आदि को हमने गलत बतलाया और प्रतिपादन किया कि 'राम आए'-'आए गा' जैसे रूप शुद्ध हैं। परन्तु 'गए-गई' आदि को शुद्ध बतला कर भी 'गये-गयी' आदि को गलत नहीं कहा, कोई भी गलत नहीं कह सकता, क्योंकि 'य' प्रमाण-प्राप्त है। परन्तु एकरूपता के लिए 'गई-गए' रूप ही काम दे गे।

मै समझता हूँ, चीज बहुत स्पष्ट हो गई है।

(८)

चाहिए-चाहिएँ

पीछे स्पष्ट किया गया कि 'चाहिए' आदि रूप शुद्ध है और 'चाहिये' आदि अशुद्ध। यहाँ हमें लगे हाथों 'चाहिए'-'चाहिएँ' पर भी विचार कर लेना चाहिए। कुछ प्रबुद्ध जन लिखने लगे है—'हमें पुस्तकें चाहिएँ।' यानी 'चाहिए' का बहुवचन 'चाहिएँ' लिखा जा रहा है। क्या यह ठीक है? सोचने पर स्पष्ट हो गा कि 'चाहिएँ' प्रयोग गलत है, सदा ही 'चाहिए' ही चाहिए।

हिन्दी क्रियापदों की तीन पद्धतियाँ

'चाहिए'-'चाहिएँ' का विवेचन करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि हिन्दी में क्रियापद तीन पद्धतियों पर चलते हैं। इन्हीं में से एक पद्धति 'चाहिए' की है। क्रियापदों की पद्धतियाँ या मार्ग तीन हैं और उन (क्रियापदों) का मार्ग निश्चित है। कुछ क्रियाएँ तो [illegible]

अस्माभि ष्ठीवितम्—हम ने थूका
बालिकाभि ष्ठीवितम्—लडकियो ने थूका

सर्वत्र क्रिया एक-रूप–'ष्ठीवितम्'–'थूका।'

ऐसी क्रियाएँ 'भाववाच्य' कहलाती है। यह तीसरी पद्धति।

यहाँ तक तो हिन्दी ने सस्कृत का पूर्ण अनुगमन किया, परन्तु इसके आगे किसी अश मे—

सस्कृत से भिन्न मार्ग है

सस्कृत में सकर्मक क्रिया का, कर्म की उपस्थिति मे, कर्म के अनुसार ही प्रयोग हो गा, 'कर्मवाच्य'। परन्तु हिन्दी ने भिन्न पथ ग्रहण किया। हिन्दी मे सकर्मक क्रियाएँ, कर्म की उपस्थिति मे, कर्मवाच्य भी होती है और कही भाववाच्य भी—

१—जुलाहे ने यह अच्छी धोती बनाई
२—लडकी ने उस धोती को (बेलबूटे काढ कर) और अच्छा बना लिया

ऊपर का प्रयोग कर्मवाच्य है—धोती बनाई, जुलाहे ने। अच्छी धोती बनाई। नीचे का वाक्य भाववाच्य है। कर्ता स्त्रीलिङ्ग–'लडकी' और कर्म भी स्त्रीलिङ्ग–'धोती' है, परन्तु क्रिया पु० एकवचन 'बना लिया'। कर्ता और कर्म में बहुवचन कर दें, तो भी क्रिया एकवचन ही रहे गी—बहुवचन न हो गी। सस्कृत से यह भेद, परन्तु वैज्ञानिक। जुलाहे ने धोती बनाई है, इस लिए कर्मवाच्य। अच्छी धोती 'बनाई' है। यानी अच्छापन बनाने के साथ-साथ आया है। इसी लिए

'धोती अच्छी बनाई'। परन्तु 'लड़की' ने धोती बनाई नहीं है; बनी-बनाई धोती में अच्छापन वह लाई है, इस लिए क्रिया भाववाच्य—बढ़िया धोती को और अच्छा बना लिया। 'धोती और अच्छी बना ली' भी प्रयोग हो जाए गा। 'और' तथा 'ली' (सहायक क्रिया) से बात साफ हो जाए गी। परन्तु 'लड़की ने धोती अच्छी बनाई' यों कर्मवाच्य प्रयोग न हो गा, यदि धोती किसी दूसरे की बनाई हुई है। 'लड़की ने वह धोती अच्छी कर ली' भी (कर्मवाच्य) प्रयोग हो जाए गा; क्योंकि 'कर ली' का मतलब यह नहीं कि उसने धोती बनाई है। इसी तरह—

राम के पिता ने यह इमारत अच्छी बनाई थी

और—

राम ने उसी इमारत को और अच्छा बना लिया

एक ने इमारत अच्छी बनाई और दूसरे ने (उस बनी हुई) इमारत में कुछ अच्छाई और बढ़ा दी—अधिक अच्छापन ला दिया। यों अर्थ-भेद से प्रयोग-भेद है। मतलब यह कि कर्म की उपस्थिति में, भाववाच्य प्रयोग नहीं होते। वैसा अर्थ प्रकट करने के लिए दूसरा उपाय ग्रहण किया जाता है।

ब्रह्मा ने सर्वांग-सुन्दर मनुष्य की सृष्टि बनाई

पर—

[illegible] ने इस सर्वांग-सुन्दर सृष्टि को [illegible] बना दिया

यों हिन्दी-प्रयोग। 'सृष्टि अच्छी कर दी' जैसे कर्मवाच्य प्रयोग भी हो जाएँ गे, पर '[illegible] ने इस सृष्टि अच्छी बनाई' न हो गा। '[illegible] दोनों को भी [illegible] देते हैं' [illegible] प्रयोग हो [illegible],

पर 'सन्त कौए सफेद बना देते हैं' जैसे (कर्तरि) प्रयोग भी न हो गे। 'सन्तो ने कौओ को सफेद कर दिया' और 'सन्तों ने कौए सफेद कर दिये' प्रयोग हो सकते है, पर 'सन्तो ने कौए सफेद बनाए' न हो गा। सस्कृत में ऐसी जगह कहा जाए गा—

सद्भिः श्वेतीकृता: काका

यानी जो पहले सफेद न थे, काले थे, उन्हें सफेद कर दिया।

परन्तु साधारण प्रयोग—

विधात्रा बका श्वेता: कृताः

'ब्रह्मा ने बगले सफेद बनाए' होता है। यहाँ 'श्वेतीकृता' न हो गा। कारण, श्वेतिमा तो बनाने के साथ आई है। ब्रह्मा ने बगले सफेद बनाए। 'सफेद बगलो को उन के निन्दित कर्म ने काला बना दिया' लाक्षणिक प्रयोग भाववाच्य, हिन्दी मे। सस्कृत में भाववाच्य तो न हो गा, पर 'च्वि' प्रत्यय से काम लिया जाए गा—

निजनिन्दितकर्मणा (श्वेता) बका कृष्णीकृता

'कृष्णीकृता' यहाँ अच्छा न लगे, तो 'मेचकीकृता' कर लीजिए। यहाँ 'मेचका कृता' न हो गा, क्योकि वह कृति तो ब्रह्मा की है न! कर्मों ने काला कर दिया है। भगवान् के लिए किसी ने लिखा है—'येन शुक्लीकृता हसा, स मे वृत्ति विधास्यति' सो गलत है। हसो को पहले किसी ने किसी दूसरे रग का बनाया होता और फिर भगवान् उन्हे सफेद कर देते, तब 'येन शुक्लीकृता' ठीक होता। 'जिस जुलाहे ने धोती को अच्छा बनाया है, वह चादर भी बना दे गा' उसी तरह गलत

प्रयोग है, जैसे 'येन सुकवीरुना हुआ'। 'जिस जुलाहे ने अच्छी धोती बनाई' चाहिए, कर्मवाच्य।

खैर, कहने का मतलब यह कि हिन्दी में, कर्म की उपस्थिति में भी, 'भाववाच्य' क्रियाएँ होती हैं—

पाल-पोस कर मा ने बेटी को इतना बड़ा बनाया

यहाँ कर्ता 'मा' और कर्म 'बेटी' दोनों स्त्रीलिङ्ग हैं। परन्तु क्रिया भाववाच्य 'बनाया'। क्यों? इस लिए कि बेटी को बनाने वाला तो भगवान् है न! 'मा ने बेटी अच्छी बनाई' यों कर्मवाच्य न हो गा। इसी तरह 'बेटी इतनी बड़ी बनाई मा ने' यह भी न हो गा। परन्तु 'मा ने इतनी बड़ी अँगीठी बनाई' ठीक है कर्मवाच्य। मिट्टी की अँगीठी उसी की बनाई है। 'पाल-पोस कर मा ने बेटी को इतना बड़ा बनाया' भाववाच्य प्रयोग, सकर्मक धातु का।

यों हिन्दी की कृदन्त क्रियाओं के तीन मार्ग हुए। अब तिङन्त-भेद देखिए। तिङन्त क्रियाओं में स्त्री०-पु० भेद नहीं होता। ये क्रियाएँ लिंग पर अपनी स्थिति नहीं रखतीं। परन्तु यहाँ 'पुरुष'-भेद होता है। पद्धतियाँ यहाँ भी तीन हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य। भाववाच्य क्रिया सदा अन्यपुरुष, एकवचन। संस्कृत में भी ऐसा ही है।

तिङन्त कर्तृवाच्य—

मैं उठूँ, तू न उठ, वे उठें, राम उठे, रमा उठे

कर्ता के अनुसार क्रिया के पुरुष-वचन हैं। स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग में समान रूप।

तिडन्त कर्मवाच्य—

तू ने ग्रन्थ पढे है
हम ने ग्रन्थ पढा है

यहाँ 'पढा'–'पढे' तो कर्मवाच्य है कृदन्त, परन्तु सहायक क्रिया तिडन्त कर्मवाच्य है—'है'। इस मे स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग का भेद नही, उभयत्र समान। परन्तु एकवचन-वहुवचन तथा 'पुरुष' (अन्यपुरुप) कर्म 'ग्रन्थ' के अनुसार है—'पढा है'–'पढे है'। सस्कृत मे भी इसी तरह कृदन्त-तिडन्त प्रयोग होते है—

त्वया ग्रन्था पठिता सन्ति
अस्माभि ग्रन्थ पठित अस्ति

कर्ता से मतलब नही। कर्म 'ग्रन्थ' के अनुसार कृदन्त क्रिया 'ग्रन्थ पठित'–'ग्रन्था पठिता'। 'अस्ति' तथा 'सन्ति' तिडन्त क्रियाएँ भी कर्म के अनुसार, एकवचन-वहुवचन। 'है'–'है' तिडन्त क्रियाएँ कर्मवाच्य यहाँ है—

'ग्रन्थ पढा है' और 'ग्रन्थ पढे है'

भाववाच्य तिडन्त—

आप पुस्तकें लिखिए

'आप' वहुवचन है। कर्म 'पुस्तके' भी वहुवचन। यो कर्ता तथा कर्म, दोनो वहुवचन, पर क्रिया 'लिखिए' एकवचन। यह तिडन्त भाववाच्य क्रिया है। कर्म की उपस्थिति में भी भाववाच्य। सस्कृत में ऐसा नही। वहाँ कर्म की उपस्थिति मे भाववाच्य क्रिया नही होती, न कृदन्त,

न तिङन्त। हिन्दी में कृदन्त सकर्मक क्रिया भाववाच्य होती है और तिङन्त भी। कृदन्त का उदाहरण पीछे आ चुका और तिङन्त का यह है। यहाँ कर्ता या कर्म के अनुसार क्रिया को बहुवचन 'लिखिएँ' कभी भी नहीं हो सकता। सदा 'लिखिए'। अपनी-अपनी पद्धति। यानी 'इए' प्रत्यय 'भावे' है—भाववाच्य क्रिया बनाता है। इसी लिए आप 'कपड़े बनाइए, कपड़ा बनाइए' समान प्रयोग।

अब आप—

'चाहिए' देखिए

यह 'चाहिए' भी 'इए' प्रत्यय से भाववाच्य सहायक क्रिया है—सदा एकरूप रहती है—अन्यपुरुष एकवचन—

[illegible] को बहुत से नौकर चाहिए
हमें कुछ कपड़े [illegible] चाहिए
[illegible] को एक नौकर चाहिए

जैसे 'अच्छे ग्रन्थ पढने' उसी तरह 'पुस्तके पढनी'। यानी, लिङ्ग-वचन का भेद मुख्य क्रिया प्रकट करती है। भूत-काल में—

राम को अच्छे ग्रन्थ पढ़ने चाहिए थे
हमें अच्छा ग्रन्थ पढना चाहिए था
तुझे अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहिए थीं

'थी' से वहुत्व सूचित है, इस लिए 'पढनी' निरनुनासिक। दोनो जगह अनुनासिक मिनमिनाहट पैदा करता। वहुत्व-सूचन से मतलव, सो हो गया। इसी लिए 'लडकियाँ गईं' और 'लडकियाँ गई थीं'। एक जगह वहुवचनार्थ 'गईं' अनुनासिक और दूसरी जगह 'थीं' से वहुत्व सूचित है। 'गई थी' मे 'गई' निरनुनासिक, पर है वहुवचन। परन्तु 'लड़के गए थे' मे 'गए' भी वहुवचन-रूप में, यद्यपि 'थे' से वहुत्व प्रकट है। 'लडके गए' में कोई मिनमिनाहट नही है। इसलिए 'लडके गए थे'। परन्तु 'गईं थीं' वोलने मे अच्छा नही लगता, इस लिए एक जगह निरनुनासिक। सो,

पुस्तक पढनी चाहिए
पुस्तकें पढनी चाहिए

यो शुद्ध प्रयोग है। 'चाहिए' भाववाच्य क्रिया है, 'उठिए' 'लिखिए' 'पढिए' आदि की तरह। सो, इसे अनु-नासिक करके वहुवचन बनाना गलती है। 'राम को पुस्तके पढनी चाहिएँ' और 'पढनी चाहिएँ' गलत प्रयोग है। 'पुस्तकें पढनी चाहिए' चाहिए। 'आप पुस्तकें लिखिएँ' की ही तरह गलत है, 'आप को पुस्तकें पढनी चाहिएँ'।

गलत—

'आप को पुस्तकें पढ़नी चाहिएं'
आप को पुस्तकें पढ़नीं चाहिएं'

सही प्रयोग—

आप को पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

'हो' और 'होओ'

'तुम निराश मत हो, काम बन जाए गा' में 'हो' गलत है। 'तुम कपड़े धोओ' बहुवचन है। 'तू कपड़े धो' एक वचन है। 'तुम' के साथ 'होओ' रहे गा, 'तू' के साथ 'हो'। हाँ, वर्तमान काल के बहुवचन में जरूर 'हो' मध्यम पुरुष का बहुवचन है—'तुम मूर्ख हो'। 'तुम विद्वान हो' ठीक, पर आशीर्वाद में 'तुम विद्वान् होओ' ठीक।

(५)

अव्यय—'लिए' शुद्ध और 'लिये' गलत

पीछे हम ने कहा कि 'लिया' का बहुवचन 'लिये' और 'लिए' दो विभिन्न या द्विरूप प्रयोग नहीं है, पर एकरूपता लाने के लिए दो में से एक ही रूप रखना हो, तो फिर 'लिए' ही रहे गा, 'लिये' न रह सके गा। 'लिया' के बहुवचन में 'य्' प्रमाण-प्राप्त है, इस लिए श्रुति न होने पर भी 'लिये' रूप को कोई गलत नहीं कह सकता; यद्यपि उस में 'य्' की श्रुति नहीं। 'गाय' 'माय' आदि में 'य्' की पूर्ण ध्वनि है ही, इस लिए वैसी जगह कोई विवाद ही नहीं। 'गाड़िया' आदि में भी यही बात है। परन्तु जहाँ 'य्' होने का न कोई प्रमाण हो, न ध्वनि हो; वहाँ उस

की स्थिति नाजायज है। वहाँ से उसे धक्का दे कर अलग किया जाए गा। 'लिए' हिन्दी का अव्यय सस्कृत 'कृते' के अर्थ में चलता है। इस की जगह उर्दू वाले 'वास्ते' लगाते है, जिस से हमें वास्ता नही। हम अपने इस 'लिए' अव्यय पर विचार कर रहे है। इसे लोग 'लिये' भी लिख रहे है। यह 'लिया' के बहुवचन 'लिये' को देख कर भ्रम-निपतन है। बच्चे सेधा नमक को मिसरी समझ कर उठा लेते है, पर चखने से सब समझ जाते है। हम भी बच्चे ही है। 'लिये' क्रिया को देख कर अव्यय भी इसी तरह 'लिये' लिखने लगे—लिखते रहे—लिखते चले जा रहे है! परन्तु अब तो स्थिति स्पष्ट हो गई है। वस्तु-भेद है। 'लिए' अव्यय मे न तो 'य्' की श्रुति है, न उसकी सत्ता में कोई प्रमाण है। फलत 'राम के लिये मैंने कपडे लिये' लिखना गलत है। चाहिए—'राम के लिए कपडे मैंने लिये (या 'लिए')'। हाँ, यदि यह कहना हो कि 'राम ने जो कपडे पहले लिये थे, वे मैंने लिये', यानी दोनो जगह 'लिये' क्रिया हो, तब बात दूसरी है। परन्तु अव्यय को 'लिये' रूप मे लिखना गलती है।

अव्यय का नाम आते ही सस्कृत 'एकत्र' की याद आती है। 'एकत्र' का अर्थ है—'एक जगह'। ब्रजभाषा मे इस का तद्भव रूप 'एकत' हो जाता है—'कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ'। राष्ट्रभाषा मे 'एकत' नही, तत्सम 'एकत्र' चलता है, पर कम—'एकत्र तो वे रँगरेलियाँ और अपरत्र वह हाहाकार!' 'अन्यत्र' का खूब प्रयोग होता है—'अन्यत्र जा बसेगे।' इस 'अन्यत्र' का तद्भव रूप अवधी-ब्रजभाषा मे 'अनत' है—

'उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं'—उत्पन्न अन्यत्र होते हैं और शोभा अन्यत्र प्राप्त करते हैं। 'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै'—मेरा मन अन्यत्र कहाँ सुख-शान्ति पा सकता है। परन्तु राष्ट्रभाषा में 'अनत' नहीं, 'अन्यत्र' चलता है। चाहे तत्सम रूप में हो, चाहे तद्भव रूप में, ये 'एकत्र' 'अन्यत्र' 'सर्वत्र' आदि अव्यय स्थानवाचक हैं, अधिकरण-प्रधान। 'एकत्र रहना सम्भव नहीं'—एक जगह रहना सम्भव नहीं।

संस्कृत में 'तत्र' 'अत्र' आदि स्थानवाचक अव्ययों से (तद्धित प्रत्यय लगा कर) विशेषण भी बनते हैं—'तत्रत्या जनता सर्वं जानाति'—वहाँ की जनता सब जानती है। 'जनता' का विशेषण है, 'तत्रत्या'। 'तत्रत्य पुष्प'—'तत्रत्यानि फलानि'। 'पुष्प तत्रत्य' और 'फलानि तत्रत्यानि'।

बनता है। सस्कृत का 'एकत्र' अव्यय लिया और वही से 'इत' प्रत्यय लिया और दोनो के मेल से 'एकत्रित' अपनी चीज बना ली। सस्कृत में 'इत' प्रत्यय ऐसी जगह नही लगता, हिन्दी ने लगा लिया। ऐसा बहुत जगह हिन्दी ने किया है। 'दार' शब्द 'कलत्र'-वाचक (सस्कृत का) हिन्दी ने लिया और वही से 'आ' स्त्रीप्रत्यय भी लिया, जिसे वहाँ 'टाप्' कहते है। ('ट्' और 'प्' उड कर 'आ' मात्र प्रत्यय रहता है—सुशील+आ='सुशीला' आदि)। सस्कृत मे 'दार' शब्द मे यह स्त्री प्रत्यय नही लगता और यह शब्द वहाँ पुल्लिङ्ग है। 'भार्या' का पर्य्याय और अकारान्त पुल्लिङ्ग। हिन्दी ने 'दार' शब्द लिया और सस्कृत का ही स्त्रीप्रत्यय 'आ' लिया। दोनो को मिला कर अपना स्त्रीलिङ्ग शब्द 'दारा' बना लिया। 'सुत दारा अरु लच्छमी, पापी हू के होयँ' यो ब्रजभाषा मे भी 'दारा' और अवधी आदि मे भी 'दारा'। हिन्दी में यह प्रवृत्ति है। 'दारा' में 'आ' स्त्रीप्रत्यय है। हिन्दी का अपना 'आ' प्रत्यय तो पुव्यजक है—सुई+आ='सुआ' और गाडी+आ='गाडा'। जैसे 'पत्ता+ई=पत्ती', पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग, उसी तरह 'सुई' (∠सूची) से पुल्लिङ्ग 'सुआ'। हिन्दी अपने आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों से ही स्त्रीप्रत्यय 'ई' लगाने की प्रवृत्ति रखती है। इस लिए सस्कृत अकारान्त 'दार' शब्द मे उस का प्रयोग नही किया। परन्तु 'कलत्र' से 'कलत्रा' नही बनाया। 'कलत्रा' कैसा लगता? हाँ, सस्कृत 'अभिलाष' पुल्लिङ्ग शब्द लेकर वही का स्त्रीप्रत्यय 'आ' लगाया और 'अभिलाषा' अपना स्त्रीलिङ्ग शब्द हिन्दी ने बना

लिया। यानी संस्कृत की ही प्रकृति और वही का प्रत्यय, चीज अपनी।

सराश यह कि हिन्दी संस्कृत अव्यय 'एकत्र' से 'एकत्रित' विशेषण बनाती है। 'एकत्रित' हिन्दी का टकसाली शब्द है, जैसे 'दारा'।

परन्तु कुछ 'अति प्रबुद्ध' जनों ने सोचा कि संस्कृत में 'एकत्र' से 'एकत्रित' तो बनता नहीं है! तब यह गलत है न! ऐसे गलत शब्द का चलना हिन्दी में बन्द होना चाहिए। यह सोच कर वे विशेषण-रूप से भी 'एकत्र' लिखने लगे! 'वहाँ एकत्र जनता ने मांग की।' जो चीज संस्कृत में नहीं बनती-चलती, वह हिन्दी में भी क्यों बने-चले! परन्तु उन 'प्रबुद्ध' जनों ने यह नहीं सोचा कि 'एकत्र' शब्द का विशेषण-रूप से प्रयोग संस्कृत में सही है, या गलत! मेरे प्यारे प्रबुद्ध भाइयो, विशेषण-रूप से 'एकत्र' का प्रयोग संस्कृत भी गलत समझती है। 'तत्र समवेताः पुरुषाः' जैसा कुछ कहा जाएगा—'वहाँ इकट्ठे लोग' के लिए। 'तत्र एकत्र पुरुषाः' संस्कृत में गलत है, अति भ्रष्ट है, भाइयो मेरे! सो, संस्कृत का पल्ला पकड़ने पर भी सो मात खा रहे हैं! संस्कृत का भी पल्ला नहीं पकड़ा, नाम भर ले रहे हैं।

इन दोनों की बातें बड़ी मजेदार हैं। संस्कृत अव्ययों से—'यत्र' 'तत्र' आदि से—संज्ञा-विशेषण नहीं बनती। 'तत्र' अधिकरण-प्रधान है और 'ततः' अपादान-प्रधान। इसी तरह 'यत्र'-'यतः' और 'कुत्र'-'कुतः' आदि। 'ततः स गतः'—वहाँ से वह चला गया। तब 'ततः' पूरा अव्यय है,

तब 'तत्र' को क्यो छेडा जाए ? परन्तु हिन्दी ने न 'तत्र' लिया और न 'तत ' लिया। 'तत्र' की जगह अपना अव्यय है—'वहाँ'। जहाँ, वहाँ, कहाँ, यहाँ आदि जहाँ हिन्दी ने अपने अव्यय वना लिए है, वहाँ सस्कृत के 'तत्र' आदि नही लेती। 'जहाँ कहो गे, वहाँ मिल जाऊँ गा' को 'यत्र कहो गे, तत्र मिल जाऊँ गा' नही कर सकते। हाँ, सयुक्त रूप से 'यत्र-तत्र सब सामग्री विखरी पडी थी' या 'यदा-कदा वे आ भी जाते है', ऐसे प्रयोग होते है। पर 'यदा वे आते है, तदा मै नही मिलता' कभी भी न हो गा।

सो, सस्कृत ने न 'तत्र'–'तदा' लिए और न 'तत ' 'कुत ' आदि ही। 'इस लिए' के अर्थ मे 'अत ' जरूर चलता है। परन्तु अपादान-प्रधान नही—'अत. चले जाओ' न हो गा, 'यहाँ से चले जाओ' चलता है। परन्तु प्रबुद्ध जनो ने सोचा—सस्कृत मे अव्ययों के आगे विभक्तियाँ नही लगती। तब हिन्दी मे क्यो लगें ? परन्तु हिन्दी तो सस्कृत अव्ययो के आगे भी अपनी विभक्तियाँ लगाती है—'सदा की यह वात है', 'सदा से ऐसा होता आया है' इत्यादि ! क्या करे गे ? एक बडे साहित्यिक बन्धु को बोलते सुना—'सदा काल से ऐसा होता आया है।' सोचा 'सदा' अव्यय है, उसके आगे 'से' विभक्ति लगा देने से हिन्दी गलत हो जाए गी ! सो, 'सदा काल से' शुद्ध प्रयोग ! पुनरुक्ति कोई गलती नही ! 'सदा' काल-प्रधान ही अव्यय है। उस के आगे फिर 'काल' लगाना ऐसा, जैसे कहा जाए—'अन्यत्र स्थान से ले ले गे !' 'अन्यत्र से ले ले गे' कहने मे हिन्दी गलत हो जाने का डर ! अव्यय के

आगे विभक्ति कैसे लगाएँ! इस लिए उनके आगे 'स्थान' और उस के आगे विभक्ति! यह है हिन्दी का शुद्धीकरण, जो प्रबुद्ध जन कर रहे हैं! वे 'वहाँ से' 'कहाँ का' 'यहाँ से' आदि को गलत समझते हैं! अव्यय के आगे विभक्ति कैसे? जो संस्कृत में नहीं, वह हिन्दी में कैसे? सुन्दर तर्क है!

हम ऐसे व्याकरण का अति ध्यान रखने वालों से बहस करने के अधिकारी नहीं। हम तो यह जानते हैं कि हिन्दी में 'यहाँ से' 'कहाँ को' 'सदा से' आदि प्रयोग होते हैं और उन्हें हिन्दी कभी भी छोड़ नहीं सकती। हम हिन्दी पर विचार कर रहे हैं, संस्कृत पर नहीं। संस्कृत से भिन्न पद्धति भी हिन्दी कहीं रखती है।

सारांश यह कि 'एकत्र' का विशेषण-रूप से प्रयोग गलत है, संस्कृत के रूप से भी गलत है। 'एकत्रित' पसन्द नहीं तो 'इकट्ठा' 'इकट्ठे' 'इकट्ठी' विशेषण लिखिए। पर ये 'गँवारू' शब्द पसन्द न पड़ेंगे! बड़ी कठिन समस्या प्रबुद्ध जनों के सामने है!

(६)

'दुहरा'–'दोहरा' और 'इकतारा'–'एकतारा'

हिन्दी अपनी पद्धति पर अपने यौगिक शब्द बनाती-चलाती है। सभी भाषाएँ यौगिक शब्दों में कुछ हेर-फेर करती हैं। 'शिर' मस्तक-वाचक शब्द संस्कृत का प्रातिपदिक (मूल) रूप है 'शिर' है। परन्तु पुल्लिंग प्रयोग है—'शरीर'। इसी 'शीर्ष' सन्धि प्रत्यय लगाने पर 'शि' का 'शी' हो गया। 'शीर्ष' का 'ष' हटा है, पर प्रेरणा से यहाँ

हो जाता है—'पाठयति'। इसी तरह समास मे भी हेर-फेर होता है। अग्रेजी 'ट्वैन्टी' आदि शब्द यौगिक है—'दशकद्वय' से मतलब है। 'टी' प्रत्यय है, या 'टू' का ही घिसा हुआ रूप है, मै नही जानता। परन्तु उसके पूर्व 'ट्वैन' तो अवश्य ही 'टैन' की छाया है। सम्भव है, 'टी' 'टू' का ही घिसा रूप हो और 'दशकद्वय' के अर्थ मे 'ट्वैन्टी' चला हो, परन्तु आगे 'ट्वैन्टी' के अनुकरण पर 'थर्टी' 'फार्टी' 'फिफ्टी' जैसे शब्द जो अग्रेजी मे बने, तो कहा जाए गा कि 'टी' एक प्रत्यय मान लिया गया। इन शब्दो में 'थ्री' 'फोर' 'फाइव' का आभास है। दस का तिगुना, दस का चौगुना, दस का पँचगुना आदि अर्थ है। परन्तु कितना परिवर्तन है! इतना परिवर्तन कि इन शब्दों के योग पर ध्यान ही नही जाता। रूढ-से प्रतीत होते है। परन्तु है निश्चय ही ये यौगिक शब्द 'नाइन्टी' तक। 'हड्रेड' अवश्य स्वतन्त्र शब्द है। मै अग्रेजी नही पढा हूँ, तो भी ऐसे शब्दो का योगार्थ ध्यान मे आता है।

इसी तरह हमारी हिन्दी में यौगिक शब्द बनते है। कभी अवयव साफ दिखाई देते है और कभी इतना परिवर्तन हो जाता है कि रूप ही वदल जाता है। 'इक्कीस' मे 'एक' का आभास पूर्वांश में मिलता है और 'बीस' का आभास उत्तराश में। पर कितना परिवर्तन हो गया है! 'चौबीस' में उत्तराश एकदम स्पष्ट है और पूर्वांश भी एकदम अस्पष्ट नही है।

सोचने पर वहुत-कुछ नियम बनाए जा सकते है। इन्ही नियमो को 'व्याकरण' कहते है। बहुत-कुछ देख-भाल कर

एक नियम बनाया जा सकता है—हिन्दी यौगिक शब्दों के पूर्वांश का आद्य दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है—दो मंजिलें जिसमें हों, वह—दुमंजिला और दो आने—दुअन्नी, एक आना—इकन्नी आदि। 'दो' का 'दु' और 'एक' का 'इक' हो गया है। कहीं और कुछ परिवर्तन। 'चार' का 'चर' नहीं होता, 'चौ' हो जाता है—'चौमासा' 'चौदह' 'चौबीस' आदि। तद्धित में 'इकलौता' आदि इसी नियम पर है।

उपर्युक्त नियम से ही 'इकहरा' 'दुतरफा' 'इकतरफा' आदि यौगिक शब्द बनते-चलते हैं। परन्तु इस पद्धति के विरुद्ध लोग लिख देते हैं—'एकतारा बजाता हुआ वह दोहरी मुसीबत दोपहरी में झेल रहा था।' चाहिए—'इकतारा' 'दुहरी' 'दुपहरी'। एक तार जिस बाजे में हो, वह 'इकतारा'—

लेता हो, वह 'नककटा'। यहाँ दोनो 'क' रहे गे, अन्यथा अर्थ-भ्रम। मतलब यह कि 'आ' को 'अ' हो जाता है—**पाँच** मेल (प्रकार) की—**पँचमेल** मिठाई। **आठ** पहलू जिस मे हो, वह 'अठपहलू'। इन यौगिक शब्दो को 'नाकटा' 'नाक-कटा' 'पाँचमेल' (मिठाई), 'आठपहलू' जैसा लिखना भाषा के सौन्दर्य को नष्ट करना है, वहुत वडी गलती है।

यौगिक शब्दों के इस प्रसग मे हमें अपने उन शब्दो पर भी विचार करना है, जिन के पूर्वा श या उत्तराश सस्कृत तत्सम शब्द है, या किसी विदेशी भाषा से आए हुए है। 'ऊपर' की छाया 'उपर' सामासिक शब्दो मे दिखाई देता है—'चार घडी उपरान्त' 'उपरोक्त ढँग से' आदि। 'चार घडी उपरान्त' की जगह 'चार घडी उपर्य्यन्त' हो ही नही सकता, शब्द वदल कर 'चार घडी के वाद' कह सकते है। परन्तु तो भी, 'उपरान्त' और 'वाद' या 'अनन्तर' के प्रयोगो मे अर्थ-भेद है। कुछ लोग कहते है कि सस्कृत 'उक्त' से असस्कृत 'उपरि' का समास ठीक नही। वे 'उपरोक्त' को इसी लिए गलत कहने की गलती करते है। 'उपर' की वात छोडिए, हिन्दी तो अरवी 'जिला' शब्द से सस्कृत 'अधीश' शब्द का समास करती है—'जिलाधीश'। 'काग्रेस'-अध्यक्ष' अग्रेजी-हिन्दी शब्दो का समास है—काग्रेस के अध्यक्ष—'काग्रेस-अध्यक्ष'। क्या यह गलत है? 'काँग्रेस-प्रेजीडेट' हिन्दी चलाए? 'काँग्रेस' शब्द बदल न सके गे। तब 'काँग्रेस-प्रेजीडेट' चले क्या? परन्तु हाँ, सन्धि ठीक नही लगती—'काँग्रेसाध्यक्ष' बुरा लगता है। 'जिलाधीश' बुरा नही लगता। कारण क्या है? कारण यह

कि 'जिलाधीश' कहने में 'जिला' शब्द ज्यों का त्यों सुनाई देता है और जहाँ 'सवर्णदीर्घ' सन्धि होती है, वहाँ के लोग 'अधीश' विच्छेद कर लेते हैं, क्योंकि 'धीश' कोई चीज ही नहीं। 'गुणाकर' 'रत्नाकर' आदि में सन्धि अच्छी लगती है, क्योंकि 'गुण' 'रत्न' और 'आकर' शब्द वहाँ के हैं, जहाँ 'सवर्ण-दीर्घ' सन्धि होती है। 'जिला' वाले देश में 'सवर्ण-दीर्घ' सन्धि नहीं होती, पर 'जिलाधीश' में 'जिला' साफ-साफ सुन पड़ता है, इस लिए बुरा नहीं लगता। 'जिलेश' न होगा, क्योंकि विदेशी शब्द कुछ का कुछ बन गया। 'जिला' का 'जिले' रूप अन्य में नहीं मिलता। इस लिए हिन्दी 'जिलेश' पसन्द नहीं करती, यद्यपि 'जिलाधीश'

होता है। 'घर' का 'घरा' रूप ठीक नही। 'सवर्ण दीर्घ' सस्कृत की सन्धि है।

सन्धि मे सर्वत्र श्रुति-सरलता तथा सुबोधता का ध्यान रखना होता है। इसी लिए 'अरि-अन्त न जब तक हो गा' ठीक; 'अर्यन्त' या 'अर्य्यन्त' सन्धि कर के नही ठीक। लड-कियो की सस्था का नाम 'छात्रा-आश्रम' ठीक, 'छात्राश्रम' नही ठीक। 'आलोचक की कवि से सहानुभूति होनी चाहिए, उस के काव्य की आलोचना करते समय मे' 'सहानुभूति' गलत, 'सह-अनुभूति' ठीक। 'सहानुभूति' और 'सह-अनुभूति' मे अन्तर है। स्पष्टता के लिए सस्कृत ने भी कही-कही सन्धि-निषेध कर दिया है—'प्रकृत्या' रहने का विधान किया है। परन्तु फिर भी, वहाँ सन्धि-नियम व्यापक है। हिन्दी में सन्धि-नियमो की वैसी अनिवार्यता नही है। सस्कृत मे 'सुअव-सर' कभी भी न हो गा, पर हिन्दी से यह हटाया नही जा सकता। केवल 'अवसर' मे वह बात नही। सन्धि कर के 'स्ववसर' कर देने से सब चौपट! इसी लिए 'अवसर' जैसे शब्द के साथ सस्कृत भाषा 'सु' को नही जोडती! सन्धि वहाँ जरूरी और 'स्ववसर' पसन्द नही। हिन्दी ने उस अनिवार्यता को उडा दिया और 'सुअवसर' मजे से यहाँ चल रहा है। इसी तरह 'काँग्रेस-अधिवेशन' समस्त शब्द चाहिए, सन्धि कर के 'काँग्रेसाधिवेशन' नही। सस्कृतेतर शब्द अलग दिखाई दे, यह हिन्दी को अभीष्ट है। हिन्दी भी सस्कृत से भिन्न भाषा है।

सस्कृत शब्दों का समास भी हिन्दी अपनी पद्धति पर करती है। हम पहले कह आए है कि सस्कृत तत्सम शब्द हिन्दी ने

एक सुनिश्चित पद्धति पर लिए हैं—प्रथमा विभक्ति का एक वचन रूप ले कर हिन्दी ने अपना 'प्रातिपदिक' बनाया है, परन्तु इस बात का ध्यान रख कर कि अन्त में विसर्ग या व्यंजन न आने पाए। 'रामः' का 'राम' लिया। संस्कृत का प्रातिपदिक नहीं लिया है—'राम' नहीं लिया। 'राम' का 'रामः' पद बन जाने पर उस के विसर्ग अलग कर के 'राम' अपना प्रातिपदिक हिन्दी ने बनाया। यह घुमा कर नाक क्यों पकड़ी? एक नियम बनाने के लिये। संस्कृत प्रातिपदिक 'गो' शब्द है, जिसके अन्त में न 'अ' है, न व्यंजन, न विसर्ग। परन्तु उस प्रातिपदिक को हिन्दी ने अपना प्रातिपदिक नहीं बनाया। 'गो का सम्मान करना चाहिए' गलत प्रयोग है। 'गौ का सम्मान करना चाहिए' शुद्ध प्रयोग है। 'गौ' हिन्दी का प्रातिपदिक है। संस्कृत 'गो' प्रातिपदिक का रूप प्रथमा एक वचन में 'गौः' होता है। हिन्दी ने उस के विसर्ग छोड़ कर 'गौ' लिया, 'गौ' को अपना प्रातिपदिक बनाया। 'गोशाला' 'गोसेवा' आदि संस्कृत के समस्त (बने-बनाए) शब्द हिन्दी ने ले लिए हैं। यहाँ 'गो-सेवा' शब्द बनता है—'गो' प्रातिपदिक है। इसी तरह 'पितृसेवा' 'मातृसेवा' आदि संस्कृत के समस्त शब्द तत्सम रूप से हिन्दी में गृहीत हैं। 'गो-सेवा' 'मातृ-सेवा' 'पितृ-सेवा' जैसे सब शब्द हिन्दी-व्याकरण भी स्वीकार करता है। परन्तु—

'नेतृ-निर्णय' आदि

विचारणीय हैं। 'नेतृ-निर्णय' जैसे नहीं समझ पाते साधारण जन जैसे 'मातृ-सेवा' आदि। इस लिए हिन्दी ने

'अपने' प्रातिपदिक 'नेता' के साथ 'निर्वाचन' का समास कर के—

'नेता-निर्वाचन' अधिक अच्छा

नेता-निर्वाचन सस्कृत मे गलत हो गा, क्योकि वहाँ प्रातिपदिक है 'नेतृ'। 'नेतृ' मे ही सब विभक्तियाँ लगती है। हिन्दी मे 'नेता' प्रातिपदिक है। 'नेता कहता है' प्रयोग होता है, 'नेता ने कहा' चलता है। 'नेतृ ने कहा' नही। जनता 'नेता' समझती है, 'नेतृ' नही। सो, अपने प्रातिपदिक 'नेता' के साथ 'निर्वाचन' का समास ठीक—'नेता-निर्वाचन'। पुरानी कृतियों मे भी 'पिता-वचन' जैसे समस्त प्रयोग मिलते है, 'पितृ-वचन' नही। परन्तु फिर भी 'पितृ-वचन' आदि शब्द सब समझ लेते है'—'पितृपक्ष' 'पितृश्राद्ध' आदि परम्परा से सुनते आए है।

कोई अति सस्कृतभक्त कह सकता है कि सस्कृत शब्दो का समास, सस्कृत-पद्धति पर, सस्कृत प्रातिपदिको से ही होना चाहिए। वह फिर 'नेता-निर्वाचन' को गलत भी कह सकता है, क्योकि सस्कृत-व्याकरण का यहाँ अनुगमन नही है। तब हम क्या कहें! अपनी मर्जी! ऐसे लोग तब 'शर्मा-स्मृतिमन्दिर' की जगह 'शर्मस्मृतिमन्दिर' लिखे-बोलें गे, क्योकि 'शर्मा-स्मृतिमन्दिर' सस्कृत-व्याकरण से गलत है। 'राजन्' की तरह 'शर्मन् सस्कृत का प्रातिपदिक है। समास में अन्त्य व्यजन का लोप करके जैसे 'राजमन्दिर', उसी तरह 'शर्म-स्मृति-मन्दिर'! ठीक है? 'वर्मा-चित्रालय' को भी गलत बतला कर 'वर्म-चित्रालय' चलाएँ गे क्या? वर्मा जी पसन्द

करेंगे? 'शर्म' और 'शर्मा' में अन्तर है और 'वर्म'–'वर्मा' में अन्तर है। इसी लिए हिन्दी ने पुं० 'शर्मन्' का 'शर्मा' लेकर अपना प्रातिपदिक बनाया और सं० नपुं० 'शर्मन्' (कल्याण) का 'शर्म' लिया, यदि कहीं आए—'शर्मदा'। 'शर्म-मन्दिर' चलता नहीं। कल्याण-मन्दिर चलता है। हिन्दी में 'शर्मा-मन्दिर' माने—शर्मा जी का घर।

सो, जैसे 'शर्मा-निवास', उसी तरह 'नेता-निवास'। 'नेतृ-निवास' ठीक नहीं। ये सब हिन्दी की प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं। इन्हें न जानने-समझने के कारण ही लोग—

'छन्दाकर' को गलत कह देते हैं!

'छन्दाकर' हिन्दी के एक ग्रन्थ का नाम है। इस 'छन्दाकर' को संस्कृताभिनिवेशी हिन्दी-प्रेमी गलत या प्रामादिक समझते हैं। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'छन्दस्' प्रातिपदिक का 'आकर' के साथ समास होने पर अन्त्य व्यञ्जन का लोप और फिर 'सवर्ण-दीर्घ' सन्धि का अभाव—'छन्दआकर' रूप होगा—'छन्दसाकर' कहीं लिखा जाता है। परन्तु हिन्दी में तो न 'छन्दस्' प्रातिपदिक है, न 'छन्दः' पद है। यहाँ तो 'छन्द' प्रातिपदिक है। 'छन्द ने' आनन्द दिया, 'छन्दः ने' या 'छन्दस् ने' नहीं। तब, अपने 'छन्द' अकारान्त प्रातिपदिक का हिन्दी यदि 'आकर' से समास करे, तो सवर्ण-दीर्घ सन्धि को कौन रोक सकेगा? हिन्दी तो विदेशी शब्द से भी सन्धि कर के 'जिला-धीश' बना लेती है। तब 'अपने' प्रातिपदिक 'छन्द' से 'आकर' की सन्धि करने पर क्या आपत्ति? और, संस्कृत-भिन्न हिन्दी

मे भी चला कर 'शर्म-भवन' नही कर सकते, तो क्वचित् सन्धि-अभाव का नियम मान कर हिन्दी मे 'छन्द-आकर' ही करने पर जोर क्यो ? हम 'छन्द-आकर' भी कहे गे, तो हिन्दी के 'छन्द' को मान कर। परन्तु पुस्तक का नाम तो समस्त 'छन्दाकर' ही ठीक हो गा। 'हिन्दी की मीमासा' हम करते है, पर पुस्तक का नाम 'हिन्दी-मीमासा' ही अच्छा लगे गा, 'हिन्दी की मीमासा' उतना अच्छा नही, यद्यपि 'हिन्दी का व्याकरण' अच्छा। फिर, हिन्दी मे आप बोले गे—"हिन्दी में 'छन्दआकर' भ्रम पैदा करता है", तो सुनने वाले यह भी समझ सकते है कि हिन्दी मे छन्द (आ कर) भ्रम डालते है, स्वच्छन्द बेतुकी ठीक। आप एक पुस्तक के सबन्ध मे कह रहे है, सुनने वाले कुछ और समझ सकते है। फिर, 'छन्द-चर्चा चली' जैसे प्रयोगो को क्या करें गे ? सस्कृत मे तो 'छन्दश्चर्चा' है। तो, क्या हिन्दी में 'छन्द-चर्चा' गलत ? 'छन्दार्णव' गलत, 'छन्दोऽर्णव' ठीक ? आपको 'छन्दश्चर्चा' और 'छन्दोऽर्णव' हिन्दी मे अच्छे लगते है, तो अच्छी बात है। हम इन्हे गलत नही कहते। सस्कृत के तत्सम समस्त शब्द है। परन्तु 'नेता-निर्वाचन' 'छन्दाकर' 'छन्दार्णव' आदि को यदि आप हिन्दी में गलत बतलाने की गलती करे गे, तो लोग आप के भाषा-ज्ञान पर हँसें गे।

साराश यह कि हिन्दी का विवेचन हिन्दी की प्रकृति के आधार पर ही हो गा। कुछ लोग हिन्दी के 'मनोकामना' और 'मूसलाधार वर्षा' को भी गलत बतलाया करते है ! कहते है, ये सन्धियाँ सस्कृत-व्याकरण से गलत है, इस

लिए हिन्दी में गलत है। यानी माधव जो यह कोट पहने है, सो ठीक नहीं, क्योंकि ऊधव के ढंग का आता है, जम कर नहीं बैठता। वे कहते हैं—'मनःकामना' लिखना चाहिए। परन्तु 'मनःकामना' तो संस्कृत में चलता नहीं, 'कामना' ही सर्वत्र चलता है। तुलसी ने 'मनकामना' का प्रयोग किया है—'पूजै मनकामना'। यानी हिन्दी-प्रातिपदिक 'मन' से ('मनस्' से नहीं) 'कामना' का समास—'मनकामना'। हम ने पहले बतलाया कि हिन्दी की अपनी स्वतन्त्र पद्धति है। 'मनकामना' का प्रयोग तुलसी ने स्त्री-सम्बन्ध से ही किया है। स्त्रियाँ ही 'मनोकामना' शब्द का प्रयोग ज्यादा करती हैं। ऐसी कामना, जो मन में ही रहती है, बाहर प्रकट नहीं होती। या, मन ही मन में बनी कामना। 'तुम्हारी मनोकामना पूरी हो' में जो बात है, वह 'तुम्हारी कामना पूरी हो' में नहीं है और 'मनःकामना' तो एकदम नहीं चलता। विशेष अर्थ में 'मनोकामना' शब्द बना है। यहाँ समझना चाहिए कि 'मन' के अन्त्य 'अ' को 'ओ' हो गया है। संस्कृत 'मनस्' के 'स्' को 'र' और फिर 'उ' हो कर 'मन' के 'न' में जो 'अ' है उस के साथ 'गुण-सन्धि' की तरह उलट फेर नहीं है। यानी यह 'मनःकामना' का अपभ्रंश नहीं है। संस्कृत में भी अर्थ-विशेष में नियम-उल्लंघन या नये नियम का निर्माण देखा जाता है। यदि 'विश्वामित्र' कहा, विश्व के मित्र (सखा) है? 'विश्वामित्र' के सन्धि-विच्छेद करने से ऐसा ही लगता है। पाणिनि ने यह नहीं कहा कि 'विश्वामित्र' गलत है, इसलिए तो 'विश्वमित्र' कहना चाहिए। [illegible]

कहा कि ऋषि के नाम मे 'विश्व' शब्द के अन्त्य 'अ' को दीर्घता प्राप्त हो जाती है, यदि परे 'मित्र' शब्द हो—'मित्रे चर्षौ'। यानी प्रवाहप्राप्त 'विश्वामित्र' शब्द को बदलने की चेष्टा पाणिनि ने नही की, एक नया सूत्र दिया। इसी तरह 'हरि-चन्द्र' की जगह एक राजा का नाम 'हरिश्चन्द्र' भी पाणिनि ने गलत नही बतलाया, पर यह भी छूट न दी कि 'विश्वामित्र' की नकल आगे चले और 'सर्वमित्र' को लोग 'सर्वामित्र' कर दे, 'विधिचन्द्र' को 'विधिश्चन्द्र' कर दे। 'विश्वामित्र', 'हरिश्चन्द्र' आदि के प्रसार पर नियत्रण जरूर किया और कहा कि लोगो के अपने बच्चो के नाम 'विश्वमित्र' जैसे रखने चाहिए, 'विश्वामित्र' जैसे नही। 'विश्वामित्र' नाम रखो गे, तो 'ससार के शत्रु' अर्थ हो गा। हिन्दी के 'मनोकामना' तथा 'मूसलाधार' (वर्षा) आदि ऐसे ही शब्द है। इन्हे बदला नही जा सकता। इन की देख-भाल सस्कृत-व्याकरण से न हो गी। कहना चाहिए कि 'मनोकामना' मे 'अ' को 'ओ' हो गया है और 'मूसलाधार' मे 'ल' का 'अ' दीर्घ हो कर 'ला' बन गया है। 'मूसलधार' कोई न बोले गा। 'द्वारावती' और 'पद्मावती' को सस्कृत मे 'द्वारवती पुरी' और 'पद्मवती रानी' नही कर दिया गया। समझा दिया गया कि सज्ञाओ के अन्त्य 'अ' को दीर्घ हो जाता है, यदि 'वती' (वत्+ई) परे हो। इसी तरह 'मूसलाधार' है। सस्कृत मे क-ख तथा प-फ परे हो, तो विसर्ग ज्यो-के-त्यो रहते है—'राम कमनीय' आदि। परन्तु 'पुरस्कार' में बात दूसरी है। भाषा-प्रवाह मे 'पुरस्कार' बना-चला और पाणिनि ने फिर इस का समर्थन

किया। यह नहीं कहा कि 'पुरस्कार' गलत है, 'पुरः कार' लिखना चाहिए। हिन्दी में 'मनोकामना' को मिटा कर जो लोग 'मनःकामना' चलाना चाहते हैं, वे पाणिनि के भी गुरु हैं, भगीरथ के भी दादा! गंगा पूरब को नहीं, दक्षिण को जानी चाहिए! ले जाइए जाए गी? ले जाओ भाई!

हम ने 'मनोकामना' तथा 'मूसलाधार' के सम्बन्ध में जो बात कही, वह 'स्त्रियोपयोगी' जैसे शब्दों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। 'मनोकामना' और 'मूसलाधार' शब्द जन-गृहीत हैं। अपढ़ जनों में भी ये प्रयोग चलते हैं। परन्तु 'स्त्रियोपयोगी' ऐसा नहीं। साधारण अपढ़ जनता 'स्त्रियोपयोगी' जानती नहीं। पढ़े-लिखे लोग 'स्त्रियोपयोगी' पुस्तकें लिखते-देखते हैं और इसी लिए यह गलत है। 'स्त्री-उपयोगी' लिखना चाहिए, सन्धि किए बिना। शुद्ध सन्धि कर के 'स्त्र्युपयोगी' कर देने से सुबोधता जाती रहेगी। उच्चारण में भी कठिन है। इस लिए 'स्त्री-उपयोगी' ठीक, या फिर और कोई शब्द दीजिए। 'स्त्रियोपयोगी' गलत है। यह जनता के प्रवाह से नहीं है, जैसे 'मनोकामना' और 'मूसलाधार' आदि हैं।

इसी तरह 'सम्राट्-स्तम्भ' लिखना ठीक। सन्धि कर के 'सम्राट्स्तम्भ' कर देने से दुर्बोधता आ जाती है। लोग 'सम्राट्' समझते हैं, 'स्तम्भ' भी समझते हैं, पर 'सम्राट्स्तम्भ' [illegible] सा लगता है। परन्तु यदि आप 'सम्राट्स्तम्भ' ही लिखें, तो हम गलत न कहेंगे। [illegible] हिन्दी में [illegible] लिखना [illegible]

है ? 'मच्छ' आदि के भ्रम! 'श्रीमान् शकराचार्य' लिखे, सन्धि-समास न करे, तो क्या कुछ कमी आ जाए गी ? हिन्दी की प्रकृति अधिक सन्धि-समास के पक्ष मे नही और कठिनता तो एकदम सह्य नही। सस्कृत मे भी उच्चारण-सौकर्य तथा सुबोधता आदि पर ध्यान रखा जाता हे। 'चतुरता' बोला जाता है, पर 'पण्डितता' नही। बोलने मे अटपटा लगता है। 'पाण्डित्य' चलता है।

सो, समास, तद्धित, कृदन्त आदि में हिन्दी की अपनी पद्धति है और सन्धि-सबन्धी अपनी मान्यताएँ है। हिन्दी सर्वाधिक सस्कृत से अनुप्राणित है, परन्तु अपना व्यक्तित्व भी रखती है। हिन्दी मे 'प्रथम' और 'पहला' दोनो ही शब्द चलते हैं। 'पहला' शब्द का विकास भी 'प्रथम' से ही है। इसी तरह 'दूसरा-तीसरा' के साथ 'द्वितीय-तृतीय' भी। 'पाँचवाँ' आदि तो 'पचम' आदि के विकास ही हैं। 'षष्ठ' का विकास 'छठा' है, जिसे गलती से लोग 'छठवाँ' लिख देते है, 'पाँचवाँ' के वजन पर! यही नही, हम ने 'षष्ठम अध्याय' भी हिन्दी की एक पुस्तक मे देखा है! ये 'छठवाँ', 'छठाँ' और 'षष्ठम', 'षष्ठम्' जैसे शब्द मूर्खता-द्योतक हैं। साधारण जन कभी भी 'छठवाँ'-'छठाँ' नही बोलते। वे 'छठा' का स्त्रीलिङ्ग 'छठी' करते है, 'छठवी' नही। 'छठा'-'छठी' मे 'छह' का 'छ' रह गया है, जैसे 'तिरगा-तिरगी' मे 'तीन' का 'ति'। तद्धित आदि मे ऐसा होता है। कृदन्त में भी—'छाँट' धातु का 'छँटनी'। आद्य स्वर ह्रस्व। 'छटनी' लिखना गलत है। धातु 'छाँट' है, न कि 'छाट'। पूछ बडो की होती है और

पूंछ जानवरों के होती है। अनुनासिक-अननुनासिक से चीज बदल जाती है। 'सास' और 'सांस' में अन्तर है। 'आंख' से 'अँखियां' हो गा, 'अखियाँ' नहीं। कोई-कोई भूल से 'भीतरीय' लिख देते हैं। 'भीतरी' चाहिए। 'ईय' संस्कृत शब्दों में लगता है। इसी तरह 'पाश्चात्य' देख कर लोग 'पौर्वात्य' गलत लिख देते हैं। ये सब बच्चों की सी गलतियां हैं।

हिन्दी में 'ञ' 'ण' और 'ङ'

हिन्दी की प्रकृति ने 'ञ', 'ण' तथा 'ङ' अनुनासिक वर्ण आत्मसात् नहीं किए हैं। संस्कृत तत्सम 'वाङ्मय', 'चञ्चल' आदि में ही इन के दर्शन होते हैं। संस्कृत में भी ऐसे शब्द दुर्लभ हैं, जिन के अन्त में 'ञ' जैसे वर्ण हों। आदि में 'ञ-ण' का मिलना तो असम्भव ही है। हां, संस्कृत में ठीक उनके

में 'म' है। 'मचलता है' मे आदि मे 'म' है। 'थमता' है की धातु 'थम' मे अन्त्य 'म' है। इसी तरह 'न' मिले गा। परन्तु ऐसा कोई शब्द न मिले गा, जिस में ण, ञ, या ङ वर्ण हो। इनकी जगह अनुस्वार चलता है। सस्कृतेतर अन्य भापाओ मे भी इन तीनो वर्णों की स्थिति नही है, पर 'न' तथा 'म' सर्वत्र है। अग्रेजी में भी 'न' और 'म' ही है (N-M)। कही भी उपर्युक्त वे तीन वर्ण नही। सस्कृत मे वे तीनो वर्ण है और छोडे नही जा सकते। काम ही न चले गा। सस्कृत तद्रूप शब्द भी हिन्दी लेती-चलाती है और उन शब्दो में वे वर्ण भी रहते है। परन्तु किञ्चित् तद्भवता भी कही मिल जाती है—अर्द्धतत्सम समझिए—ककण<कङ्कण, चचल< चञ्चल और मडन<मण्डन आदि उभयथा चलते है। परन्तु ठेठ हिन्दी के शब्दो मे, या अन्य भाषाओ के गृहीत शब्दो मे ण, ङ, म, न रहे गे। अन्य भाषाओ मे ये है ही नही। इस लिए ऐसा लिखना गलत है—

झण्डा, घमण्ड, टण्डन, सुपरिण्टेण्डेण्ट, नङ्गा, भिखमङ्गा, लफङ्गा, लञ्च आदि।

लिखना चाहिए—झडा, घमड, टडन, सुपरिंटेडेट, नगा, भिखमगा, लफगा, लच आदि। हिन्दी की प्रकृति-प्रवृत्ति का ध्यान रखना ही होगा।

कुछ लोग 'न' और 'म' का भी वहिष्कार कर देते है, सर्वत्र अनुस्वार। 'दत' 'पप' जैसे शब्द ये लिखते है, जो गलती है। 'दन्त' 'पम्प' चाहिए, क्योकि हिन्दी मे 'न', 'म' गृहीत है और यथाश्रुत लिखने की प्रवृत्ति है। शब्द के

आदि, मध्य और अन्त, सर्वत्र न-म का प्रयोग है। 'ध्यान' 'म्यान' आदि में संयुक्त रूप भी है। इस लिए 'दन' 'पप' ठीक नहीं। न और म का यथाश्रुत प्रयोग चाहिए। इन तीनों वर्णों की ध्वनि दूसरी है। इन के साथ इन्हें, या इन के साथ उन्हें न गिनना चाहिए।

बस, दिङ्-निर्देश के लिए इतना पर्याप्त है। 'दिङ्-निर्देश' लिखना मुझे आता है, पर हिन्दी में 'दिक्-निर्देश' या 'दिशानिर्देश' लिखें गा, लिखना चाहिए। स्पष्ट है।

इस अध्याय का यह अन्तिम अंश समाप्त करने से पहले इसे—

'चारसूत्री कार्यक्रम' और 'तीन दिवसीय' अधिवेशन जैसे समास-पदों पर भी एक नज़र डालने की ज़रूरत है।

'सूत्र' के साथ 'चार' शब्द का समास कर के 'चारसूत्री' शब्द बनाना-लिखना गलती है और इसी तरह 'दोसूत्री' 'तीनसूत्री' और 'दो दिवसीय' 'तीन दिवसीय' आदि गलत हैं। चाहिए—त्रिसूत्रीय, त्रिसूत्री, त्रिसूत्रीय, [illegible], द्विदिवसीय, त्रिदिवसीय आदि। 'दो' और 'तीन' आदि शब्दों के साथ 'सूत्र' आदि का समास न हो गा। हां, 'सूत्र' के साथ [illegible] हो सकता है, पर 'सूत्र' का वह अर्थ न हो गा, जो 'त्रिसूत्री' में 'सूत्र' का है। [illegible] में 'दो' का 'द्वि' हो जाता है— [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'त्रि' और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible],

'द्विसूत्रीय कार्यक्रम', 'त्रिदिवसीय अधिवेशन' आदि। जो 'सूत्र' का वह अभीष्ट अर्थ समझता है, वह 'द्वि', 'त्रि' आदि का अर्थ भी समझ सकता है। 'द्विदिवसीय' सस्कृत तत्सम और 'द्विसूत्री' हिन्दी मे सस्कृत का अर्द्ध-तत्सम रूप समझिए। 'द्वि' और 'सूत्र' सस्कृत तत्सम शब्द और आगे 'ई' 'अपना' तद्धित प्रत्यय—'द्विसूत्री'। सस्कृत शब्दो मे भी हिन्दी अपने तद्धित प्रत्यय कभी-कही लगाती है—'सावधानी'। 'सावधान' सस्कृत शब्द और 'ई' हिन्दी का भाव-तद्धित प्रत्यय। परन्तु 'सावधानी' की तरह 'चतुर' से 'चतुरी' नही बन सकता, न 'पडित' से 'पडिती' बने गा। भाषा ने जिसे जैसा ग्रहण कर लिया। 'द्विसूत्रीय'-'द्विसूत्री' दोनो सही, पर 'द्विदिवसी' न हो गा—'द्विदिवसीय' ही रहे गा। इसी तरह 'त्रिदिवसीय' आदि।

तृतीय अध्याय

संस्कृत से शब्द ग्रहण करने की पद्धति

पहले बताया गया कि हिन्दी संस्कृत के शब्द किस पद्धति पर ग्रहण करती है। प्रथमा-विभक्ति के एकवचन रूप ले कर हिन्दी ने उन्हें 'अपना' प्रातिपदिक बनाया है—पितृ > पिता, राजन् > राजा, कर्मन् > कर्म आदि। परन्तु प्रथमा-एकवचन में यदि (अन्त में) विसर्ग या व्यंजन हुए, तो उन्हें हिन्दी ने अलग कर दिया है—रामः > राम, कविः > कवि, चन्द्रमाः > चन्द्रमा, नभः > नभ, सरित् > सरि आदि। विसर्ग अस्थिर होते हैं और व्यंजनान्त पदों के व्यंजन छाँटने की अपेक्षा दूसरे स्वरान्त शब्द ग्रहण किए हैं। 'दिश्' और 'दिशा' प्रातिपदिक संस्कृत के हैं। प्रथमा-एकवचन में 'दिश्' का रूप 'दिक्' होता है और 'दिशा' का 'दिशा' ही रहता है। हिन्दी ने 'दिक्' को न लिया कर के दिका, न 'दिग' कर के ही। 'दिशा' ले लिया। 'पश्चिम दिश् में भी बहुत पर्वत हैं' प्रयोग गलत है—'पश्चिम दिशा में' सही है। हिन्दी ने दिक् को अपना प्रातिपदिक नहीं बनाया। हाँ, 'दिक्-निर्देश' आदि रूप में आ जाता है, समास आदि में। पर अलग से न आएगा—'पूर्व-दिक् से आँधी आई' न होगा; 'पूर्व-दिशा से आँधी आई' होगा। प्रथमा-एकवचन का [illegible] रूप ले कर ही तो प्रातिपदिक हिन्दी ने नहीं लिया। भी [illegible] लिये रूप ले कर 'भी' को अपना प्रातिपदिक बनाया।

'धनुष्' के ग्रहण मे द्विधा प्रवृत्ति है। 'ष्' को सस्वर कर के 'धनुष' हिन्दी प्रातिपदिक और या फिर प्रथमा-एकवचन 'धनु ' के विसर्ग हटा कर 'धनु' का ग्रहण। 'धनुप' आधुनिक प्रवृत्ति है। हिन्दी-प्रकृति मे मूर्द्धन्य 'ष' गृहीत नही। पहले 'धनुस' हो गा, जिस के 'स' को 'ह' कर के 'धनुही'। परन्तु अब 'धनुष' चलता है, कही 'आयुष' भी। 'आयुष' के व्यजन को सस्वर कर लिया। परन्तु अधिक प्रवृत्ति 'आयु' की है। प्रथमा-एकवचन 'आयु ' के विसर्ग हटा दिए और चीज अपनी 'आयु'। 'हविष्' का 'हविष' भी गृहीत है, 'हवि' (<'हवि ')कम दिखाई देता है। यानी 'ष' जिन शब्दो के अन्त मे है, उन्हे अकारान्त कर लेने की प्रवृत्ति नजर आती है। सरित्-सरिता इन दो रूपो मे से 'सरिता' प्रातिपदिक रूप से गृहीत है—'सरिताएँ वह रही थी'—'सरितें' नही। 'सरिता वह रही थी' 'सरित् वह रही थी' नही। 'वाक्' न ले कर हिन्दी ने 'वाणी' को अपना प्रातिपदिक बनाया। 'मीठी वाणी ने मोह लिया'। 'मीठी वाक् ने मोह लिया' गलत हो गा। हाँ, "वाग्-देवता (या 'वाक्-देवता') की आराधना से सिद्धि प्राप्त हुई" यहाँ 'वाक्' या 'वाग्' ठीक। प्रातिपदिकत्व पर विवेक है। 'विपत्-विपद्' न ले कर 'विपत्ति' प्रातिपदिक रूप से हिन्दी ने लिया। 'विपत्ति से मनुष्य घबरा जाता है' 'विपत् से' नही। हाँ, 'बिपदा' 'आपदा' कविता मे चलते है। यह प्रातिपदिक ग्रहण करने की सामान्य पद्धति है।

इसी तरह सस्कृत से विशेषण लेने की भी एक विशिष्ट पद्धति है और भाववाचक—

विस्तार–विस्तर

आदि के ग्रहण–त्याग से भी विवेक है। संस्कृत में 'विस्तार' तथा 'विस्तर' ये दो शब्द हैं। दोनों एक ही धातु से एक ही प्रकृति पर हैं। परन्तु इन के प्रयोग-क्षेत्र संस्कृत में बँटे हुए हैं। 'विस्तार' का क्षेत्र व्यापक है, 'विस्तर' का संकुचित। यह विस्तार-संकोच इन के रूपों से भी ध्वनित होता है। 'विस्तार' में स्पष्ट-विस्तार है और 'विस्तर' में संकोच। 'नद्या विस्तारः'—नदी का विस्तार, 'वनस्य विस्तारः'—वन का विस्तार, 'पर्वतस्य विस्तारः'—पर्वत का विस्तार आदि सर्वत्र 'विस्तार' चलता है, पर शब्द-सम्बन्धी विस्तार के लिए (संस्कृत में) 'विस्तर' चलता है—'विस्तरेण तत् प्रतिपादितम्'—वह विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। संस्कृत के 'विस्तरेण' का अनुवाद हिन्दी में 'विस्तार से' हो गा, 'विस्तर से' नहीं। संस्कृत में 'विस्तारेण प्रतिपादितम्' गलत हो गा, 'विस्तरेण' सही; और हिन्दी में 'विस्तार से' शुद्ध, 'विस्तर से' गलत। यानी हिन्दी ने संस्कृत का 'विस्तर' शब्द प्रयोग-विशेष के लिए नहीं लिया। 'विस्तार' का ही सर्वत्र विस्तार यहाँ है। [illegible] 'विस्तरेण' [illegible] होना चाहिए [illegible] 'विस्तर' शब्द [illegible] 'विस्तार' नहीं, [illegible] ! हिन्दी में [illegible] [illegible] 'विस्तर' [illegible] है।

हिन्दी ने 'विस्तार' इस लिए लिया कि यह एक व्यापक पद्धति पर है। 'विस्तर' ले लेने से लोग 'प्रकार' को 'प्रकर' और 'विकार' को 'विकर' लिखने लगते! तव क्या होता? इसी लिए, प्रकार, विकार, प्रस्तार, विचार, आचार आदि की लाइन मे 'विस्तार'। यह सरलता की पद्धति है। हिन्दी की इस प्रकृति से अनभिज्ञ होने के कारण कुछ लोगो ने—

'हिन्दी में जागर्ति'

लिखना शुरू किया! वोले—सस्कृत मे 'जागर्ति' होता है! होता हो गा! हिन्दी एक शव्द के झमेले मे क्यो पडे? लोग फिर 'स्मृति' को 'स्मर्ति' और 'कृति' को 'कर्ति' लिखनें लगे, तो? क्या सभी लोग पहले सस्कृत का महाव्याकरण पढ कर आएँ, तव हिन्दी लिखें-वोलें? हिन्दी में 'जागृति' गृहीत है, 'कृति' आदि की लाइन पर। 'जागर्ति' यहाँ उसी तरह गलत है, जैसे 'विस्तर से सिद्धान्त-प्रतिपादन'। यहाँ 'विस्तार से' सही है। उसी तरह 'जागृति' सही है। 'जागर्ति' यहाँ गलत है।

'राजनीतिक' भी हिन्दी में गलत है

कुछ लोग 'राजनीतिक' विशेषण लिखने लगे है, जब कि प्रवाह 'राजनैतिक' का है। कहते है, सस्कृत मे 'राजनीतिक' बनता है! 'राजनीतिक' के वजन पर लोग 'इतिहासिक' भी लिखनें लगे और विश्वविद्यालयो के प्राध्यापक लिखने लगे! हिन्दी ने 'विस्तार' ले कर 'विकर' आदि की गलतियो का द्वार बन्द किया और हिन्दीवालो ने सस्कृत का 'राजनीतिक' ले कर

अर्थ (सस्कृत के अनुसार) यह हो गा—'ये सब राजा के साले बैठे है।' हिन्दीवाले यह गाली क्यो खाएँ? सो, यहाँ 'राष्ट्रीय सभा' होता है, 'राष्ट्रिय सभा' नही। राजा के साले लोग अपनी सभा बनाएँ, तो वह 'राष्ट्रिय सभा' हो गी।

सस्कृत मे यदि 'राष्ट्रिय' न भी बनता होता और व्यापक अर्थ मे, विशेषण रूप से भी 'राष्ट्रिय' ही एकमात्र शब्द गृहीत होता, तो भी हिन्दी 'राष्ट्रीय' ही पसन्द करती। 'राष्ट्रिय' का ही विकास 'राष्ट्रीय' हिन्दी मे समझा जाता। 'विनति' का विकास 'विनती' है न? अर्थ-विकास भी है। 'राष्ट्रीय' एक लाइन पर है—देशीय, प्रदेशीय, विजातीय आदि की तरह—राष्ट्रीय-अराष्ट्रीय आदि। जब 'राष्ट्रिय' (विद्वानो ने!) हिन्दी मे चलाया, तो लोग 'प्रदेशिय' और 'प्रान्तिय' भी लिखने लगे! समझा हो गा कि भूखण्ड-वाचक शब्दो से 'इय' होता है! उन का क्या अपराध? जब बडे जोर से आवाज 'राष्ट्रिय' के विरुद्ध लगी और कहा गया कि तुम लोग राजा के साले क्यो बनते हो, तब फिर 'राष्ट्रीय'-प्रवृत्ति ने जोर पकडा! यो बार-बार लोग हिन्दी-मन्दिर को घूसरित करते है और बार-बार साफ करना पडता है! और काम कैसे हो?—मै तो इसी मे मर लिया!

सोचा मैं ने उष काल में,
मा का भवन सजाऊँ।
अभिनव अर्थ उपार्जित कर के,
मै भी भेंट चढ़ाऊँ।

हि तज्जाड्य श्रोता यत्र न वुध्यते'—यदि अधिकारी श्रोता की भी समझ मे वात न आए, तो उसे कहनेवाले की ही जडता समझना चाहिए।

मतलव यह कि हिन्दी मे वह सन्धि गृहीत नही, जो 'अन्ताराष्ट्रिय' मे है—'अन्तर्राष्ट्रिय' करना हो गा। 'र' पर 'र' अच्छा नही लगता, पर 'तवर्रा' और 'वर्र' आदि मे हिन्दीवाले वोलते ही है। सो, 'अन्तर्राष्ट्रिय' शव्द चाहिए। परन्तु जो अर्थ वक्ता देना चाहता है, वह तो इस से भी न निकले गा। 'राष्ट्रिय' शव्द पर ऊपर लिखा जा चुका है। यहाँ केवल—

'अन्तर्' पर विचार करना है

'अन्तर्' का प्रयोग प्राय 'भीतर' या 'भीतरी' के अर्थ मे होता है, यह कह आए है। 'अन्तर्देशीय पत्र-व्यवहार' का मतलव हुआ—'देश के भीतर-भीतर होने-वाला पत्र-व्यवहार'। 'अन्तर्देशीय पत्र'—देश के भीतर-भीतर आने-जानेवाला पत्र। 'अन्तर्द्वन्द्व'—अपने भीतर की रस्साकसी। इसी तरह 'करण' हाथ-पावँ आदि, जिन से कुछ काम किया जाता है और 'अन्त करण'—भीतरी करण, 'मन' आदि। 'अन्तरङ्ग'–'वहिरङ्ग' मे वहुत साफ है मतलव। सर्वत्र 'भीतर' या 'भीतरी' अर्थ है। परन्तु 'इटर नेशनल कान्फ्रेस' के अर्थ मे भी लोग 'अन्तर्' का प्रयोग करते है—'अन्ताराष्ट्रिय परिषद्' 'अन्तर्राष्ट्रिय परिषद्' 'अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्'। 'राष्ट्रिय' शव्द पर पहले ही लिखा जा चुका है कि विशेषण-रूप से इस का प्रयोग गलत है—'राष्ट्रीय' चाहिए।

पुस्तक मे ऐसा नही। 'राम देशान्तर घूम कर आया है।' 'देशान्तर'—दूसरे देश। इसी तरह 'गृहान्तर' आदि समझिए। 'गृहान्तर-प्रवेश'—दूसरे घर मे प्रवेश और 'गृहान्त प्रवेश'—घर के भीतरी हिस्से मे प्रवेश। 'देशान्तर' का ही 'देसावर' हो गया है। 'देसावरी माल है'—दूसरे देश (या देशो) का माल है। यानी अपने देश का नही। जब भी अन्त मे 'अन्तर' शब्द 'अन्य' अर्थ मे आए गा, 'स्व' का ग्रहण न हो गा। 'देशान्तरीय जनो से सम्पर्क'—दूसरे देश के लोगो से सम्पर्क। अपने देश की यहाँ बात नही है। इसी तरह 'देशान्तरीय परिषद्'—'दूसरे देशो की परिषद्'। 'देशान्तर-परिषद्' का भी वही मतलब है।

'देशीय' और 'अन्तर्देशीय' मे अन्तर स्पष्ट हुआ। यदि कोई ऐसी परिषद् हो, जिस मे अपने देश के साथ-साथ अन्यान्य देशो का भी सबन्ध हो, तो कहा जाए गा—

अन्तरदेशीय-परिषद्, अन्तरदेश-परिषद्

यानी 'अन्तर' का पर-प्रयोग करने पर ऐसा 'अन्य' अर्थ आता है, जिस मे 'स्व' गृहीत नही होता—'देशान्तर।' परन्तु उसी ('अन्यार्थक') 'अन्तर' शब्द का पूर्व प्रयोग कर देने से 'अन्य' के साथ 'स्व' भी रहता है—'अन्तरदेश-परिषद्'-'अन्तरदेशीय परिषद्', 'अन्तर-विश्वविद्यालय-सगठन' और 'अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ'। 'इटर नेशनल कान्फ्रेंस'—'अन्तर-राष्ट्रीय परिषद्'। यो सन्धि का झमेला भी हट गया—न 'अन्ता' और न 'अन्त'। सर्वत्र 'अन्तर'।

कर शुद्ध 'छह' प्रतिष्ठित किया गया। 'अन्ता' और 'अन्त' रूप भी 'अन्तर्' के साधारण जनता ने नही किये और 'अन्तर्विश्व-विद्यालय' से भी उस का कोई सवन्ध नही। इस लिए, ऐसे विशेषण एकदम गलत है। भापा को भ्रष्ट करनेवाले है। 'एकत्र जनसमूह' आदि भी जनगृहीत शव्द नही कि उस तरह उन्हे दर-गुजर किया जाए। साधारण जन तो 'इकट्ठी भीड' वोलते है। सस्कृत मे भी 'एकत्र' का प्रयोग विशेषण के रूप मे गलत है और जनता वैसा वोलती नही, इस लिए ये सर्वथा भ्रष्ट प्रयोग है। नीमहकीमी का परिणाम समझिए। भाषा की जान के लिए ये खतरे है। इसी लिए इलाज किया गया।

'दम्पति'—'दम्पती'

हिन्दी मे 'दम्पति' शव्द मजे से चल रहा था, पर नीम-हकीमो ने कहा कि हिन्दी मे 'दम्पति' गलत चल रहा है— 'दम्पती' चाहिए, क्योकि सस्कृत मे 'दम्पती' शव्द है, 'दम्पति' नही। बस, हिन्दी मे 'दम्पती' लोग लिखने लगे! कैसी वेतुकी बात है! चाहे जो भापा-शुद्धि करने लगता है!

हिन्दी मे 'दम्पति' का प्रयोग शुद्ध है और 'दम्पती' गलत है। जैसे कवि, कपि, पति आदि, उसी तरह 'दम्पति'। सस्कृत मे 'दम्पति' मूलत है, इकारान्त। जाया और पति= 'दम्पति'। पतिपत्नी—दम्पति। यानी 'जाया' तथा 'पति' का समास हो कर 'जाया' को 'दम्' हो गया है। यो 'दम्पति' शब्द का गठन इकारान्त है, सस्कृत मे। परन्तु 'दम्पति' मे द्वित्व है, इस लिए द्विवचन मे ही इस का प्रयोग होता है वहाँ—

जाते है', उसी तरह 'वकील जाते है।' 'वकला जाते है' गलत। 'शायर आए' सही और 'शोरा आए' गलत।

यानी 'वचन'-प्रयोग अपने ढँग पर। अग्रेजी तथा सस्कृत आदि सभी भाषाओ मे यही पद्धति है। 'धोती' शब्द हिन्दी का अग्रेजी मे गया, पर बहुवचन वहाँ अपने ढँग पर हो गा—'धोतीज'। 'ब्रिग माई धोतीज' की जगह 'ब्रिग माई धोतियाँ' कभी भी अग्रेजी न करे गी। यदि कोई वैसा बोले-लिखे, तो एकदम गलत कहा जाए गा। 'कैय्यट' 'मम्मट' जैसी जनपदीय व्यक्तिवाचक सज्ञाएँ सस्कृत मे अपने (सस्कृत के) अनुशासन मे चलती है—'मम्मट'–'कैय्यट' और 'मम्मटेन'–'कैय्यटेन' आदि। जिस प्रदेश के ये शब्द है, वहाँ की विभक्तियाँ सस्कृत इन मे न लगाए गी।

सो, हिन्दी मे 'दम्पति' शुद्ध है और 'दम्पती' गलत।

'काश्मीर'–'कश्मीर'

सस्कृत में उपर्युक्त दोनो शब्द चलते है, पर हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार 'काश्मीर' अधिक पसन्द किया। दीर्घ-'गुरु' शब्द हिन्दी अधिक पसन्द करती है। 'विस्तर' न ले कर 'विस्तार' लिया। 'मुरारि' भी यहाँ 'मुरारी' बन जाता है। 'युवति'-'युवती' इन दो सस्कृत शब्दो मे से 'युवती' को ले कर हिन्दी ने अपना प्रतिपादिक बनाया। विशेषण रूप में भी 'युवती'। 'एक युवती मिली'—'एक युवति मिली' नही। सस्कृत मे 'युवति' चलता है—'युवतिर्गता'–'युवतयो-गता'। परन्तु हिन्दी ने 'युवती' ही लिया। 'युवतिजनो का

जगह 'राजनयिक' देना-चलाना कुछ जँचता नही , विशेपत यह देखते हुए कि दैनिक 'हिन्दुस्तान' भी 'राजनीति' की जगह 'राजनय' नही लिखता—'छात्रो को राजनीति मे न पडना चाहिए।' यदि विशेपण 'राजनयिक' है, तो उस का बाप 'राजनय' सामने रहना चाहिए। लिखना चाहिए—'अमरीका का **राजनय** पूंजीपतियो से प्रभावित है।' 'अमरीका की राजनीति' लिख कर फिर 'अमरीका का **राजनयिक** वातावरण' दे, तो भाषा तीन कौडी की भी न रहे गी! मन भर गेहूँ और आधा मन **गोधूम-चूर्ण** चाहिए' कैसा प्रयोग है? एक जगह 'गेहूँ' और दूसरी जगह 'गोधूम'! जान पडता है, दोनो भिन्न चीजे है! 'नीति' और 'नय' दोनो सस्कृत शब्द समानार्थक है , पर हिन्दी ने अपने व्यापक व्यवहार के लिए 'नीति' शब्द ही ग्रहण किया है। 'राजनीति शास्त्र मे उन्हो ने एम० ए० किया' ऐसे वाक्य दैनिक 'हिन्दुस्तान' के उसी पृष्ठ मे, जिस मे 'राजनयिक' विशेषण! यह क्यो? 'राजनय शास्त्र में एम० ए० किया' क्यो नही? जब 'राजनीति' की जगह 'राजनय' नही देते, तो 'राजनैतिक' की जगह 'राजनयिक' क्यो?

जहाँ तक मेरा ख्याल है, 'राजनैतिक' शुद्ध है, या 'राजनीतिक' इस झमेले से बचने के लिए 'राजनयिक' ग्रहण किया गया हो गा! दो छात्र झगड पडे! 'रावण' मे 'व' है, या 'ब', यह विवाद। सब 'व' जानते-समझते हैं , पर एक छात्र ने कहा कि यहाँ 'ब' है, 'व' नही है। 'ब' कहनेवाला छात्र वाचाल था। दोनो गुरु जी के पास पहुँचे और निर्णय चाहा। गुरु जी भी झमेले मे पड गए! ग्रन्थो के प्रमाण दिए , पर

जा सकता है। जल का 'विप' भी एक नाम कोश-ग्रन्थो मे है, पर कोई कहे—'उस ने फिर विप पिया और सो गया', तो यही समझा जाए गा कि जहर पिया और मर गया ! यह न समझा जाए गा कि ठढा पानी पीने के बाद उसे नीद आ गई। परन्तु कविता मे 'जल' के लिए 'विप' का प्रयोग कैसा मजेदार हुआ है —

मदन-विसिख तीखन लगे, मुरछि परी सुधि नाहि।
दूजे वद वदरा अरी, घिरि-घिरि विष वरखाहि।

मदन के तीखे वाणो से घायल पर ऊपर से ये 'वद वदरा' विप-वर्षा कर रहे है ! यहाँ 'जल' के लिए 'विष' शब्द जम कर बैठा है। परन्तु साधारण प्रयोग मे हिन्दी 'विप' तो क्या, 'वारि' भी नही लेती, 'नीर' को भी नही लेती। सर्वत्र 'पानी' या 'जल'। फिर भी कोई 'नीर की वाढ ने तबाही ला दी' लिखे, तो उस की मर्जी ! इसी तरह का 'राजनयिक' विशेषण है। समाचार-पत्र एक महाशक्ति के रूप मे अपने हाथ है, चाहे जो किया जा सकता है !

वैसे दैनिक 'हिन्दुस्तान' भाषा-शुद्धि पर बहुत ध्यान रखता है और भाषा-विषयक मेरे लेख सब से ज्यादा दैनिक तथा साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में ही प्रकाशित हुए है। परन्तु, तो भी सम्पादक जी ने 'राजनयिक' अभी तक नही छोडा है !

'भूमिगत' विशेषण

'भूमिगत' विशेषण अपने सही अर्थ मे विचारणीय नही है— "जब राजस्थान के **भूमिगत तेल** आदि पदार्थ प्रकट होगे, तब

सो, 'छिपने' के अर्थ मे 'भूमिगत' विशेषण हिन्दी में, सस्कृत मे या पजावी आदि अपनी प्रादेशिक भाषाओ मे गलत है। सस्कृत से प्रेम है, तो 'तिरोहित' लिखिए। 'अन्तर्हित' लिखिए। 'भूमिगत' की अपेक्षा ये शब्द अधिक सुवोध है। यदि भीरुता प्रकट करनी है, तो 'दुवके हुए' लिखिए। परन्तु 'भूमिगत' ठीक नही। यदि अपने साधारण अर्थ मे दे, तव ठीक—'भूमिगत अनन्त जल-राशि मशीनो से ऊपर लाई जा सकती है।'

'लोकगीत' 'जनजाति'

हिन्दी में कुछ दिनो से 'लोकगीत' तथा 'जनजाति' जैसे शब्द भी लोग चला रहे है। क्या यहाँ 'लोक' तथा 'जन' विशेषण ठीक है? विचारणीय है।

'ग्रामगीत' के लिए लोग 'लोकगीत' लिखने लगे है। पहले ऐसे देहाती गीतो को 'ग्रामगीत' कहते थे। ग्रामगीतो की ओर प० रामनरेश त्रिपाठी ने (हिन्दी मे) सब से पहले ध्यान दिया। ऐसे गीतो का बहुत बडा सग्रह कर के 'ग्रामगीत' नाम से प्रकाशित कराया। दूसरे लोगो का भी इधर ध्यान गया। कुछ काम हुआ। परन्तु 'ग्रामगीत' लोग भूल जाएँ, इस इच्छा से, या न जाने क्यो, एक नया नाम 'लोकगीत' चलाया गया! यानी 'ग्राम' की जगह 'लोक' (सबन्ध-रूप से) विशेषण। क्या यह ठीक है? तब निराला जी के गीतो को क्या कहे गे? क्या ये 'परलोक-गीत' कहे जाएँ गे? तुलसी और सूर के गीत भी ग्राम्य भाषा मे नही है—सुसस्कृत साहित्यिक व्रजभाषा मे है। व्रज के ग्रामगीत व्रज की 'बोली' में है। इन्हे 'लोकगीत' कहा

जाएगा, तो तुलसी-सूर आदि के गीत निरर्थक हो (उन से भिन्न स्थिति रखने के कारण) उन लोक की चीज नहीं ! ठीक है?

सीधी बात है। देहाती गीतों का 'ग्रामगीत' सुप्रचलित और सुबोध नाम है। उस की जगह 'लोकगीत' करना एक अनावश्यक और उलझने का काम है।

यही स्थिति 'जनजाति' की है। 'आदिवासी' शब्द जंगली जनों के लिए चल रहा था, ठीक ! मनुष्य पहले जंगली तो था ही। परन्तु 'जनजाति' कहना ठीक नहीं। 'जन' तो हम सभी हैं—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या वनवासी, सभी 'जनजाति' हैं। वस्तुतः 'जनजाति' बेतुका शब्द है। 'जनजाति' तो मानवमात्र के लिए है। अमरीकी-ईरानी और रूसी-चीनी आदि सभी 'जनजाति' के हैं—मानव जाति के हैं ! तब फिर विशिष्ट वर्गों में निकालने का और उन्हें निकालने पर हम [illegible] जाएँगे? 'जनता' कहने से भी [illegible] 'जनजाति' का बोध हो गा ! [illegible]

[illegible]

'प्रतिरक्षा विभाग'

हमें 'प्रतिरक्षा' विशेषण भी देख लेना चाहिए, जो 'विभाग' के साथ लगाया जा रहा है। प्रति उपसर्ग विचारणीय है। 'रक्षा-विभाग' समझ मे आता है, ठीक है। रक्षा-विभाग पुलिस भी है—आन्तरिक उपद्रवो से बचाने के लिए और पुलिस को इस लिए 'रक्षा-विभाग' नाम देना हो, तो सेना को 'सुरक्षा-विभाग' कहिए। 'सु' उपसर्ग से रक्षा की विशेषता सूचित होती है। 'डिफेंस' का अर्थ 'रक्षा' से निकल जाता है, तो भी, पुलिस से व्यवच्छेद के लिए 'सुरक्षा' सही। परन्तु 'प्रति' का तो कोई मतलब ही यहाँ समझ मे नही आता। आक्रमण के विरुद्ध 'प्रत्याक्रमण' समझ मे आता है और प्रत्याक्रमण अपनी रक्षा के ही लिए होता है। यो 'प्रत्याक्रमण' मे 'प्रति' ठीक है, तो भी 'प्रत्याक्रमण' मे वह सीधी शालीनता नही, जो 'रक्षा' या 'सुरक्षा' मे है। परन्तु 'प्रतिरक्षा' क्या? कोई अपनी रक्षा कर रहा है, तो क्या उस का भी मुकाबला करने की जरूरत है? उस की रक्षा से बचने के लिए हमे अपनी 'प्रति-रक्षा' करनी हो गी? उस के लिए एक विभाग रखना हो गा?

मालूम नही, ऐसे शब्द कौन गढता है, कौन गढवाता है! हमें एक बार बताया गया कि 'प्रतिरक्ष' एक स्वतत्र धातु है, जिस का निर्देश ऋग्वेद में हुआ है। हमे ऋग्वेद का वह मत्र तो नही दिखाया गया, पर हम यह कैसे मान लें कि 'प्रतिरक्ष' एक स्वतत्र धातु है? जब भाषा का व्याकरण बन गया और धातु-उपसर्ग आदि की कल्पना कर के भाषा की व्यवस्था

हो गई, तब 'प्रतिरुध' को स्वतन्त्र धातु कहना कैसी बेतुकी बात है! तब 'धातु' भी कैसा? अखण्ड धातु समझना चाहिए। और, धातु-प्रत्यय का नाम लिया तो 'उपसर्ग' कहाँ छूट जायेंगे? और 'उपसर्ग' नाम की कोई चीज मान लेने पर 'प्रतिरुध' को एक पृथक् धातु मानना कैसी मूर्खता है! तब तो 'प्रतिगम्' एक स्वतन्त्र धातु और 'आगम्' एक स्वतन्त्र धातु! फिर उपसर्ग नाम ही गया! तो, 'प्रतिरुध' को एक स्वतन्त्र धातु मानना-बताना बच्चों जैसी बात है।

फिर, इस प्रयोग-व्यवहार पर भी ध्यान देना है। उपसर्गों की प्रयोग-व्यवस्था में उत्तरोत्तर सुधार हुआ है। किसी समय 'प्रति' का प्रयोग 'नु' के अर्थ में भी चलता रहा था और इसी लिए गीता में कहा है —

"कौन्तेय, प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति"

यहाँ 'प्रतिजानीहि' प्रयोग हुआ है। प्रतिजानीहि सच्ची तरह समझ ले! 'अर्जुन, तू सच्ची तरह समझ ले कि मेरे भक्त का कभी भी पतन नहीं हो सकता।' यहाँ 'प्रतिजानीहि' में 'प्रति' 'नु' के अर्थ में है। परन्तु आगे चल कर भाषा में शब्द-प्रयोग की सुव्यवस्था बढ़ गई और 'नु' की जगह 'नु' तथा 'प्रति' की जगह 'प्रति' लिखा जाने लगा। 'सुव्यवस्था' की जगह 'प्रतिव्यवस्था' कोई नहीं कर सकता। 'प्रति' का प्रयोग ऐसा निश्चित हो गया कि लोग यह भी भूल गए कि कभी 'नु' के अर्थ में 'प्रति' भी चलता था! और इसी लिए कतिपय टीकाकारों ने 'प्रतिजानीहि' का अर्थ किया है 'प्रतिज्ञा करो' — हे अर्जुन, तू प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्त का नाश नहीं

भी नही होता !' श्री कृष्ण के भक्त का नाश नही होता, ऐसी प्रतिज्ञा अर्जुन करे ! मतलव क्या निकला ? 'भक्त का नाश नही होता' यह वात जानने-समझने की है, या प्रतिज्ञा करने की ?

परन्तु उपसर्गो के वे वैसे प्रयोग भी पुराने युग मे होते थे। आगे चलते-चलते भाषा मे प्रयोग व्यवस्था ऐसी हुई कि भ्रम-सन्देह न रहे। तव 'सु' के अर्थ मे 'प्रति' का प्रयोग देना वन्द हो गया। आज कोई भी 'सुगम भाषा' को 'प्रतिगम भाषा' न कहे गा। तव फिर 'प्रतिरक्षा विभाग' क्या है, कैसा है, ध्यान दीजिए।

सरकारी महकमे भाषा विगाड रहे है। कुछ दिन पहले 'मनीआर्डर' के लिए 'रुप्यप्रैष' चला था ! इस अटपटे शब्द का चलन हिन्दी का मजाक उडवाने के लिए ! शोर मचने पर फिर 'मनीआर्डर' चला ! परन्तु 'थाई' आदि पूर्वीय देशो में 'मनीआर्डर' कोई जानता ही नही और 'रुप्यप्रैष' जैसे वेढंगे शब्द भी वहाँ नही। वहाँ 'धनादेश' धडल्ले से चलता है। अपने यहाँ 'मनीआर्डर', 'रुप्यप्रैष' और फिर 'मनीआर्डर'।

इसी तरह कुछ दिन तक रेलवे-स्टेशनो पर विचित्र शब्द देखे—'बाह्य मार्ग' 'आन्तरिक मार्ग' शब्द देखे ! क्या मतलब ? 'बाहरी मार्ग'-'भीतरी मार्ग' ! मतलव हल हुआ ? शोर मचने पर अब—'बाहर जाने का रास्ता' और 'भीतर जाने (या आने) का रास्ता' सब जगह लिखा गया। शब्द क्या, पूरे वाक्य ! यदि 'आगमन'-'निर्गमन' शब्द लिख दिए जाते, तो ? तो, अच्छा न रहता, क्योकि तब इन का कोई मजाक

न उठाना और फिर 'बाहर जाने का रास्ता' जैसे प्रवचन-पत्र देखने को न मिलते!

इसी प्रसंग में हमें 'शाक उपाहार-गृह' याद आता है! ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ साग-भाजी ही मिलती है! खान-पान खाने की जगह! कैसा मज़ाक! वस्तुतः यहाँ निर्विशेष— 'उपाहार-गृह' चाहिए, अतः सभी तरह के लोग जा सकते हैं। मांसभोजी उपाहार-गृहों में 'वैष्णव भोजन' करनेवाले लोग नहीं जाते। इस लिए इन खास उपाहार-गृहों के आगे 'मांसभोजी' विशेषण लगाना चाहिए। यानी 'उपाहार-गृह' और 'मांसभोजी उपाहार-गृह' शब्द चाहिए। परन्तु 'मांसभोजी' की जगह 'आमिष या सामिष' विशेषण लगे जाते हैं। साधारण जनता में मांस शब्द प्रचलित है, 'आमिष' नहीं। 'सामिष' तो और भी ऊटपटाँग! लोग 'आमिष' या 'सामिष' का अर्थ नहीं समझ पाते। [illegible]

[illegible]

देखा ! क्या मतलब ? 'आगे की बत्ती' ? 'अग्रवत्ती' का मतलब तो यही है। 'अगरबत्ती' मे जो 'अगर' है, वह सस्कृत 'अगुरु' शब्द से है, 'अग्र' से नही , यह बात बेचारे को मालूम नही ! इसी तरह—

'वर्कर-वध माता के आगे,
कहो कौन-सा पुण्य ?'

आदि समझिए। देवी के आगे बकरे मारने की गर्हणा है , पर समझे गा कौन ?' 'वर्कर' जो अग्रेजी का हमारे 'कार्यकर्ता' के लिए प्रसिद्ध शब्द है, उस के कारण 'माता' को 'भारत माता' लोग समझे गे ! कैसा रहा ? 'वध' भी ठीक नही, न बकरे के लिए और न कार्य-कर्ता के लिए ही। 'वध' तो दुष्ट-राक्षस का होता है—रावण-वध, कस-वध, जरासन्ध-वध आदि। 'वर्कर-वध' ठीक नही। 'हत्या' जैसा कोई शब्द चाहिए।

सो, 'बकरा' को 'वर्कर' बना देना सस्कृतज्ञता का परिचय देने के लिए ! परन्तु सस्कृत मे तो बकरे के लिए 'अज' 'छाग' आदि शब्द आते है—'वर्कर' नही। 'वर्कर' तो सस्कृत मे किसी भी तरुण पशु को कहते है—'वर्करस्तरुण पशु ।' हिन्दी का 'बकरा' देख कर लोगो ने इस का सस्कृतीकरण 'वर्कर' शायद कही कर दिया और उसी का अनुगमन 'वर्कर-वध' मे है। हिन्दी का 'बकरा' पूरब के 'बोकरा' से बना है। यह 'बो' 'बो' किया करता है ! 'बोकरा' को शालीन बना लिया गया 'बकरा' कर के। इसी 'बकरा' को लोगो ने 'वर्कर' समझ लिया। परन्तु सस्कृत का 'वर्कर' अन्यार्थक है। कही-कही 'वर्कर' शब्द बकरे की व्यजना जरूर कर देता है और

मनमाना प्रयोग हो जाता है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने एक लेख का शीर्षक 'कांग्रेसी मैं' दिया था, जिस में सामाजिक तथा राजनैतिक 'कांग्रेसी' लोगों की खबर ली गई है। ये लोग जब देखो, तब 'मैं मैं' किया करते हैं—'मैं ऐसा हूँ' 'मैं ने यह किया' आदि। यहाँ 'मैं' अकेली जान है, जो सब से बड़ी और भी इजहार करता है, अपनी बनावट से, जोर से 'मैं' के प्रयोग से। सुन्दर प्रयोग है। परन्तु ऐसे हिन्दी में (और बंगला में भी) बहुत सी 'कांग्रेसी' हमा-मिमता चलती है।

बस, कबीर ने यही कहना चाहा था।

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी में विदेशी भाषाओं के शब्द

हिन्दी ने कुछ विदेशी भाषाओ के भी शब्द लिए है। सभी जीवित-जागृत भाषाएँ ऐसा करती है—समीप आई किसी भी विदेशी भाषा के जरूरी शब्द ग्रहण कर लेती है। परन्तु कोई भी भाषा अपने क्रियापद, सर्वनाम तथा विभक्तियाँ आदि नही बदलती। स्वतत्र भाषा की अपनी यह मूल शब्दराशि समझिए।

विदेशी भाषा से शब्द ग्रहण करने मे भी हिन्दी की अपनी विशिष्ट पद्धति है। जो शब्द हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है, उन्हें ज्यो-का-त्यो—तद्रूप या तत्सम ले लिया गया है—जैसे रूमाल, मकान, कोट, वटन आदि। परन्तु जो ऐसे नही, जिन का रूप-रग हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नही, उन्हे कुछ खरास-तरास कर लिया गया है—जैसे ख्याल (<ख़याल), जरूरत (<ज़रूरत), अस्पताल (<हास्पिटल), लालटेन (<लैटर्न) आदि। 'मेरे खयाल मे इसे हास्पिटल में एक लैंटन दे देना काफी हो गा।' यह वाक्य भोडी-भद्दी हिन्दी का नमूना है। 'गगा जी' अग्रेजी मे 'गेजीज' बन गई। अब आप (अग्रेजी में) 'गगा जी' या 'गगा' लिखे, तो अग्रेजो के लिए आप की भाषा कैसी रहे गी? फारसी मे जा कर हमारा 'ब्राह्मण' बन जाता है—'बिरहमन'। यही 'बिरहमन' यहाँ उर्दू वाले बोलते-लिखते हैं। अपनी-अपनी प्रवृत्ति! हम हिन्दीवाले 'खयाल' 'हास्पिटल' आदि तद्रूप भी बोलना जानते

है और उन भाषाओं के बोलने-लिखने समय उनका ही उच्चारण—लेखन करते हैं, पर अपनी भाषा में तो 'शुद्ध' लिखा हुआ रूप ही हम स्वीकार करेंगे। '[illegible]' आदि को अब हिन्दी में शायद ही कोई भाई लिखता हो। परन्तु '[illegible]' '[illegible]' आदि कभी भी कहीं-कहीं लिख-पढ़े जाते हैं। इस लिए इस पर विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी में पहले फ़ारसी भाषाओं से जो विदेशी शब्द लिए जाने लगे थे और तुलसी-सूर तक यह प्रवृत्ति चल गई थी। परन्तु आगे [illegible] से अनुसार ही ऐसे शब्द लिए गए हैं और अनेक उसी पद्धति पर, जो हम ने ऊपर बताई है। '[illegible]' जैसा शब्द [illegible] और '[illegible]' का '[illegible]' बनाकर '[illegible]' जैसा 'नाम' लिया हुआ रूप। '[illegible]' '[illegible]' '[illegible]' आदि कभी भी न लिखेगा। श्री [illegible] जायसी जैसे मुसलमान कवियों ने भी ऐसे शब्द [illegible] रूप में ही लिए हैं। यह परम्परा पूर्ण वैज्ञानिक और भाषा की प्रकृति के अनुरूप है, [illegible] हिन्दी-लेखकों ने [illegible] बोलना-लिखना शुरू कर दिया। [illegible] जैसा उच्चारण शुरू कर मुसलमानी लिपि (उर्दू) के [illegible] पढ़े हो थे। वे उन में '[illegible]' तथा '[illegible]' [illegible], पर '[illegible]' [illegible]—जैसा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] '[illegible]' और [illegible] [illegible] [illegible] '[illegible]'

'कोहनूर'-जैसे पत्रो का सम्पादन कर के (उर्दू-जगत् मे) यशस्वी हो चुके थे। गुप्त जी फारसी के भी विद्वान् थे। महर्षि प० मदन-मोहन मालवीय गुप्त जी को हिन्दी मे ले आए। गुप्त जी के हिन्दी-गुरु थे कानपुर-निवासी प० प्रतापनारायण मिश्र। मिश्र जी भी उर्दू-फारसी खूब जानते थे।

गुप्त जी ने 'भारतमित्र' के ता० १६ फरवरी सन् १६०० के अक मे लिखा था —

"काशी की 'नागरीप्रचारिणी सभा' हिन्दी मे विन्दी चलाना चाहती है। यह विन्दी अक्षर के ऊपर नही, नीचे हुआ करे गी। ('लडना' 'पढना' आदि हिन्दी-शब्दो के नीचे लगनेवाली विन्दी का जिक्र यहाँ नही है)। ऐसी विन्दी लगाने का मतलव यह है कि उस से उर्दू (—गृहीत फारसी आदि) के शब्द हिन्दी मे 'शुद्ध' लिखे-पढे जाएँ। हिन्दी मे खाली 'ज' होता है और उर्दू मे 'जीम' 'जाल' 'जे' 'ज्वाद' और 'जोय'। 'जीम' के सिवा इन सव उर्दू अक्षरो का उच्चारण 'ज़' के उच्चारण तुल्य होता है। 'जे' का उच्चारण जिह्वा के ऊपर के दाँतो के साथ मिलने से होता है।

'नागरीप्रचारिणी' वाले चाहते है कि हिन्दी के 'ज' के नीचे एक बिन्दी लगा कर उर्दू के 'जे' का उच्चारण करे। हिन्दी मे ऐसा उच्चारण नही है, क्योकि वास्तव मे 'ज़े' 'जीम' का ही विकार है। वह फारसीवालो के कठ की खराबी के सिवा और कुछ नही है। उस खराबी को 'नागरीप्रचारिणी' हिन्दी में भी घँसाना चाहती है। परन्तु इस घँसाने से लाभ क्या, इस का पता ठीक-ठीक नही लगता।

'जे'-'ज़ाल' की ग़लती उर्दू में यहाँ तक है कि कुछ लोग बरसों शिक्षा पाने तथा मकतबों (उर्दू मदरसा) की रोटी [illegible] तक चाट जाने पर भी 'जे'-'ज़ाल' का भेद ठीक-ठीक नहीं जान सकते। [illegible] है कि अमुक शब्द 'ज़ाल' से है, या 'जे' से। [illegible] सकती है, जो 'नागरीप्रचारिणी सभा' हिन्दी का प्रचार करने में क्यों कठिनता मानती है? [illegible] 'ज़ाल' से नहीं है 'नाज़िम' 'जे' से, [illegible] 'ज्वाद' से और 'नाज़िर' 'ज़ाल' से। 'नागरीप्रचारिणी सभा' ने [illegible] बिन्दी लगा देने से भेद का [illegible] हो गया, परन्तु [illegible] 'ज़ाल' 'ज्वाद' और 'ज़ोय' का [illegible] क्यों नहीं? यदि [illegible] 'ज्वाद' 'ज़ोय' का [illegible] नहीं है, तो बिन्दी लगाने की [illegible] है तो फिर [illegible] 'ज्वाद' 'ज़ोय' का भी कुछ [illegible] करना चाहिए। [illegible]

विन्दी की वीमारी 'नागरीप्रचारिणी सभा' के जन्म लेने से भी पहले लोगो को हो चुकी है। वृन्दावन-निवासी प० राधाचरण जी गोस्वामी ने नागरीदास जी-कृत, 'इश्क चमन' छापा था। उस मे उन्हो ने उर्दू-शब्दो मे खूब विन्दी की भरमार की थी, यहाँ तक कि जिन शब्दो के नीचे विन्दी (नागरीप्रचारिणी के रूल से भी) न लगानी चाहिए, उन के नीचे भी उन्हो ने विन्दी लगा दी थी। स्व० प० प्रताप-नारायण मिश्र उसे पढते-पढते लोट-पोट हो गए थे और कहा था कि "यह विन्दी की वीमारी हिन्दीवालो को अच्छी लगी! यह इन्हे वहुत दूर तक खराव करे गी।"

'नागरीप्रचारिणी सभा' के ही मेम्वरो मे एक वहुत वडे आदमी है, जो हिन्दी-अग्रेजी के वडे पडित है। वे 'वकील' शब्द में 'वडा काफ' बोलते थे। वे समझते थे कि 'वडा काफ' वोलने से ही उर्दू हो जाती है। हम ने उन को समझाया कि साहव, 'वकील' 'छोटे काफ' से ही है, 'वडे काफ' से नही। इसी तरह विन्दी की वीमारी मे पड कर उर्दू न जाननेवालो को वडी ठोकरें खानी पडती है।

यदि 'सभा' के इस नियम पर हिन्दीवाले चल पडे, तो बीच ही मे वेडा पार हो जाए गा। इसी से हमे सावधान करना पडा है कि लेखक लोग आँख खोल कर चले, 'नागरीप्रचारिणी' की लकडी पकड कर न चलें। 'सरस्वती' पत्रिका मे 'मोगल' शब्द लिख कर 'ग' के नीचे विन्दी लगाई गई है। बिन्दी का तो ख्याल किया, परन्तु शब्द के ठीक उच्चारण का कुछ भी विचार नही किया कि शब्द 'मुगल' है, 'मोगल' नही है।

परन्तु सन् १९३७-३८ तक काफी धमाचौकडी थी। नीचे विन्दी लगाने की चाल जोरो पर थी। मै कुछ लिख रहा था, जिस मे 'जायका' शब्द जम रहा था, पर मै यह न समझ सका कि नीचे बिन्दी कहाँ दी जाए और कहाँ न दी जाए। कदाचित् १९३५ की बात है। तब तक मै ने गुप्त जी का ऊपर उद्धृत लेख न देखा था। वह तो (गुप्त जी के सुयोग्य पुत्र) श्री नवलकिशोर गुप्त की कृपा से देखने को मिला, जब प० झावरमल शर्मा से सम्पादन करा के उन्हो ने 'बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली' सन् १९५० मे प्रकाशित कराई और उस की एक प्रति स्नेह-वश मेरे पास भेजी। इस लेख से बडा बल मिलता। खैर, मै अपने ही बल पर (विदेशी शब्दो के नीचे) बिन्दी लगाने का विरोध करने लगा। सिद्धान्त मेरे सामने था—भाषा की प्रकृति। मै ने लेख लिखे और कहा कि जब फारसी आदि को नागरी लिपि मे लिखना हो, तब नीचे बिन्दी लगाई जा सकती है और उर्दू-फारसी के पद्य आदि उद्धृत करने में भी नीचे बिन्दी लगा सकते है, परन्तु हिन्दी मे उस की कतई जरूरत नही।

सन् १९३८ मे 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' का अधिवेशन शिमला-शैल पर हुआ। उस में मै ने एक प्रस्ताव रखा कि फारसी आदि के शब्द (हिन्दी मे) नीचे बिन्दी लगाए बिना ही लिखे जाया करें। प० कृष्णकान्त मालवीय तथा डा० गोकुल-चन्द नारग जैसे विद्वानो ने विरोध किया, पर जब मै ने भाषण दे कर सब स्पष्ट किया, तो सब मान गए। प्रस्ताव पास हो जाने पर मै ने प्रचारात्मक लेख लिखे और वस्तुत इसी सिद्धान्त

को ठीक न समझने के लिए 'हिन्दी-भाषा' पुस्तक लिखी। इस बात की, पर लिखा गया ऐसा! 'सम्मेलन' के प्रकाशन होने हिन्दी भाषा का ही समझने का! सन् १९४३ तक यही रहा। उस समय श्री रामचन्द्र टण्डन 'सम्मेलन' के साहित्य-मन्त्री थे। उन्हें लिखा कि आप 'सम्मेलन' के प्रकाशनों में 'शिमला-अधिवेशन' के भाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव का ध्यान रखा करें। परन्तु टण्डन जी ने मेरे निवेदन की उपेक्षा कर दी! तब मैंने 'सम्मेलन' के तत्कालीन प्रधान पं० माखनलाल चतुर्वेदी को लिखा कि 'सम्मेलन' के साहित्य-मन्त्री 'सम्मेलन' के भाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव की उपेक्षा कर रहे हैं, इसे रोकिए, नहीं तो हम इस पद [illegible] का प्रस्ताव [illegible] रहे थे। चतुर्वेदी जी ने [illegible] लिखी [illegible] सन् १९०० के प्रारम्भ में और पं० [illegible] थी। [illegible] है।

[illegible]

पचम अध्याय

वाक्य-विन्यास

इस पुस्तक का यह अध्याय सब से अधिक महत्त्वपूर्ण और सब से अधिक उपयोगी है , उसी तरह, जैसे कि मेरी पुस्तक 'सस्कृति का पाँचवाँ अध्याय' का पाँचवाँ अध्याय। इस के लिए कुछ अधिक पृष्ठ सुरक्षित रखने थे , इसी लिए पीछे के अध्याय पर्य्याप्त छोटे रखे गए। पुस्तक वडी न हो जाए, यह ध्यान रखना जरूरी था। इस अध्याय की यह भूमिका इस लिए कि आप जरा सावधानी से पढे। भाषा-सवन्धी उलझने वाक्य-विन्यास मे ही आती है और उन्हे सुलझाना सरल नही, सब का काम नही। हिन्दी यद्यपि स्वत पूर्ण, सुलझी हुई, सरल भाषा है , पर बहुधा 'अति' व्याकरण का ध्यान रखनेवाले उलझने पैदा कर देते है और फिर वे उलझने दूसरो को बहुत तग करती है।

वाक्य का गठन

हिन्दी का वाक्य-गठन अत्यन्त सरल है। सन्देह—भ्रम को गुजाइश नही। सस्कृत मे विभक्ति लगाए बिना शब्दो का प्रयोग नही होता , पर यहाँ ऐसा नही है। अनावश्यक यहाँ कुछ भी नही। विभक्ति का प्रयोग तभी होता है, जब उस की जरूरत हो। अन्यथा प्रातिपदिक का ज्यो-का-त्यो प्रयोग होता है। 'राम' 'गोविन्द' 'राजा' 'माता' 'पिता' आदि प्रातिपदिक है। इन्ही मे 'ने' 'को' आदि विभक्तियाँ

धम से गिर पडे गा—चले गा नही, 'पद' न रहे गा। लँगडे को वैसाखी का सहारा समझिए। 'राम लडका देखता है' न हो गा। आप कहे गे कि 'लडका' सप्राण है और 'फल' जड है, इसी लिए एक जगह विभक्ति है, अन्यत्र नही। यानी जड पदार्थ 'कर्म' हो, तो 'को' विभक्ति नही लगती, चेतन मे लगती है। परन्तु नीचे के प्रयोग देखने से वह बात कट जाती है—

राम ने लडका देखा
मै लडका देखता हूँ
कन्या वर खोजती है

यहाँ 'कर्म' चेतन है, और फिर भी 'को' नही है। अर्थ-विशेष प्रकट करने के लिए 'को' लगाएँ, यह अलग बात है, किन्तु ऊपर के वाक्य गलत नही है। परन्तु 'राम लडका देखता है' गलत है। यहाँ कर्म कारक 'को' विभक्ति के साथ चाहिए। क्यो ? इस लिए कि उस के विना कर्तृत्व-कर्मत्व स्पष्ट नही। भ्रम रहे गा कि देखनेवाला कौन है। कौन किसे देखता है, पता न चले गा। यह इस लिए कि दोनो के आँखे है—दोनो देख सकते है। हिन्दी मे—विशेषत हिन्दी-पद्य मे—कारको का क्रम-बन्धन नही है। जोर देने के लिए पद इधर-उधर कर दें, तो भी कारक-भ्रम न हो गा, इस लिए कि यहाँ वैज्ञानिक व्यवस्था है। 'राम फल देखता है' 'राम घर देखता है' मे स्पष्टत कर्ता 'राम' है, 'फल' या 'घर' नही। आँखे 'राम' के ही है, फल या घर के नही कि वे देख सके। तब भ्रम को या सन्देह को अवसर कहाँ ? परन्तु

इस तरह के प्रयोग होते है। कभी लाक्षणिक प्रयोग करना हो, तो भी 'को' चाहिए—

भोजन मनुष्य को खाने लगता है, यदि भूख के बिना खाया जाए।

यहाँ कर्म 'मनुष्य' है, 'को' विभक्ति के साथ। यदि 'को' न हो, तो ठीक न रहे गा। 'साँप नेवला मार देता है' मे कर्म 'को' विभक्ति के साथ चाहिए—'साँप को नेवला मार देता है' या 'साँप नेवले को मार देता है'। दोनो ही एक दूसरे को मार सकते है, दावँ लगने की वात है। सो, 'को' विभक्ति के विना वक्ता का आशय स्पष्ट न हो गा और यदि स्पष्टता न आई, तो भाषा का पैदा होना ही व्यर्थ। परन्तु 'साँप मेढक खाता है' यहाँ कर्म (मेढक) 'को' विभक्ति के विना भी असन्दिग्ध है, क्योकि साँप ही मेढक को खा सकता है, मेढक साँप को नही।

सक्षेप यह कि विभक्तियो का अनावश्यक प्रयोग हिन्दी नही करती।

'इस पुस्तक को लिख कर ने हिन्दी का बडा उपकार किया है'

यह वाक्य गलत है। यहाँ 'को' विभक्ति लगाना गलती है। 'यह पुस्तक लिख कर' चाहिए। 'जुलाहे ने धोती बनाई' हो गा, 'धोती को बनाई' नही। 'जुलाहे ने धोती बना कर ही दम लिया'—'धोती को बना कर' नही। हाँ, बनी-बनाई धोती में किसी ने कुछ खूबी-खराबी पैदा कर दी हो, तब जरूर 'को' का प्रयोग हो गा—'उस रद्दी धोती को भी लडकी ने अच्छा बना लिया' ठीक। 'वह रद्दी धोती भी

दर्ज़ी ने अच्छी कमीज़ सी' तो 'को' के बिना भी, यदि 'बनाना' क्रिया का प्रयोग न हो। जैसे, 'धोती तो जुलाहे ने बनाई है, न कि 'दर्ज़ी' ने। उस ने उसे अच्छा बना दिया है, यह अलग बात है। 'दर्ज़ी ने धोती को अच्छा बना दिया' ठीक, परन्तु 'जुलाहे ने धोती को बना दिया' गलत! 'जुलाहे ने धोती बना दी' शुद्ध प्रयोग है। 'राम ने अपना लड़का अच्छा बनाया और गोविन्द ने अपनी लड़की अच्छी बनाई' ये ऐसे प्रयोग गलत हैं। न राम ने लड़का बनाया है, न गोविन्द ने लड़की बनाई है। इन में अन्यथाकरण [illegible] है। तो, सही प्रयोग है—

राम ने अपने लड़के को अच्छा बना दिया
गोविन्द ने अपनी लड़की को अच्छा बना दिया
[illegible] ने [illegible] को [illegible] बना [illegible]

अर्थात्—ऐसी जगह [illegible] क्रिया 'को'-विभक्ति के साथ कर्म-कारक चाहती है और [illegible] (क्रिया) [illegible] चाहती है—[illegible]।

'राम ने अपना घर अच्छा बनाया' ठीक है। परन्तु 'घर' का यदि [illegible] प्रयोग हो, तब—

राम ने अपने घर को अच्छा बना दिया

अथवा—

राम ने अपना घर अच्छा बना दिया

[illegible]

‘राम की बगल में गोविन्द का घर है’

ऐसे गलत प्रयोग भी वे लोग करते है, जो ‘व्याकरण’ का ‘अति’ ध्यान रखते हैं। सोचते है, ‘बगल’ शब्द स्त्री-लिङ्ग है, तब ‘राम के बगल मे’ कहना गलत है। इसी लिए वे ‘राम की बगल में’ कहते–लिखते है। साधारण जन बोलते है— ‘राम के बगल मे गोविन्द का घर है’। इसी तरह ‘राम की ओर’ और ‘राम के चारो ओर’ जैसे प्रयोग देख कर हिन्दी के बडे-बडे ‘शब्द-साधक’ इस भ्रम के शिकार हो गए है कि ‘ओर’ शब्द कभी-कभी पुल्लिङ्ग भी हो जाता है। यानी ‘राम के चारो ओर’ मे ‘ओर’ शब्द को पुल्लिङ्ग बतलाया गया है। और ‘राम के लडकी हुई’ ‘गोविन्द के चार गौएँ है’ ऐसे प्रयोगो को इस लिए गलत समझा गया है कि ‘लडकी’ तथा ‘गौ’ शब्द स्त्री-लिङ्ग है, तब ‘के’ कैसे। और ‘की’ ठीक बैठता नही है, इस लिए लिखते है—‘राम को लडकी हुई है’ ‘गोविन्द को चार गौएँ है’ इत्यादि। यानी अपने भाषा-भ्रम को व्याकरण कहते है और फिर उस के अनुसार भाषा को चलाते है— चलाने का उद्योग करते है।

वस्तुत ये प्रयोग एकदम गलत है, हिन्दी-व्याकरण के विरुद्ध है—

राम की बगल मे गोविन्द रहता है
राम को लडकी हुई, गोविन्द को लडका हुआ
राम को चार गौएँ है, इत्यादि।

शुद्ध और टकसाली प्रयोग ये है—

राम के बगल मे गोविन्द रहता है

राम के आगे खड़े गोविन्द ने [illegible]

राम ने [illegible], इत्यादि।

राम की 'बगल' में गोविन्द का '[illegible]' होने का [illegible] है और [illegible] [illegible] [illegible] का [illegible] [illegible] है? [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। यदि [illegible] प्रयोग हो '[illegible] में [illegible]' [illegible] हो, तो '[illegible]' का, या 'राम गोविन्द को अपनी बगल में [illegible] है' [illegible] [illegible] [illegible] जैसे '[illegible] की [illegible] [illegible] ने अपनी [illegible] न [illegible]।' परन्तु [illegible] ऐसा न हो, तो कोई [illegible] [illegible] [illegible] किसी [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible] [illegible] है। 'राम के [illegible] में गोविन्द [illegible]' 'राम के [illegible] में गोविन्द का [illegible] है' [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

सम्बन्ध-प्रत्यय और शब्द-निर्माण

[illegible]

[illegible]

बहुवचन मे 'आ' की जगह 'ए' हो जाता है और स्त्रीलिङ्ग मे 'ई'–'राम के कपडे' 'राम की धोती' आदि। इन्ही प्रत्ययो मे व्रजभाषा तथा राजस्थानी अपनी 'ओ' विभक्ति लगा कर 'राम को' 'मेरो' 'अपनो' यो 'को' 'रो' 'नो' रूप 'क' 'र' 'न' के बना लेती है। पूरब मे न 'आ' विभक्ति लगती है, न 'ओ' ही, प्रत्यय मात्र चलते है—'सखि, हमर दुखक न छोर'। बीच में (अवधी मे) 'हमार' 'तुम्हार' रूप और मैथिली मे 'हमर' जैसे।

सक्षेप यह कि हिन्दी मे 'क' 'र' तथा 'न' सबन्ध-प्रत्यय है, जिन मे सज्ञा-विभक्ति 'आ' और 'ओ' लग कर 'राम का'–'राम को' तथा 'मेरा'-'मेरो' जैसे रूप होते है। ये रूप 'भेदक' के अनुसार रहते है, जैसा कि सस्कृत मे भी है। 'तव पुत्र' 'तव कन्या' में सवन्ध-विभक्ति है, एकरस, 'पुत्र' तथा 'कन्या' के साथ एक जैसा रूप 'तव'। परन्तु सज्ञा-विभक्ति न दे कर सबन्ध-तद्धित से भी बात कही जाती है। सस्कृत मे 'ईय' सबन्ध-तद्धित प्रत्यय से 'त्वदीय' 'मदीय' रूप बने, जिन मे सज्ञा-विभक्ति लग कर 'त्वदीय' 'मदीय' रूप, जैसे हिन्दी मे 'क' 'र' के 'का' 'रा' रूप—'राम का' 'मेरा'। सस्कृत की ही तरह 'भेदक' के अनुसार ये रूप बदलेगे—

त्वदीय. पुत्रः पठति—**तेरा लड़का** पढता है
त्वदीयाः पुत्राः पठन्ति—**तेरे लड़के** पढते है
त्वदीया कन्या पठति—**तेरी लड़की** पढती है

इसी तरह 'राम का लडका' 'राम की लडकी' आदि। परन्तु विभक्ति कभी न बदले गी, भेदक के अनुसार अपना रूप-परिवर्तन न करे गी, सदा एकरूप रहे गी—

रामस्य पुत्रः जातः—राम के लड़का हुआ
रामस्य कन्या जाता—राम के लड़की हुई
तव पुत्रः जातः—तेरे लड़का हुआ
तव कन्या जाता—तेरे लड़की हुई

और तथा—

रामस्य नन्दनाः जाताः सन्ति—राम के लड़के हुए हैं
तव पुत्राः जाताः सन्ति—तेरे [illegible] हैं

यहाँ विभक्ति 'राम'-'तव' [illegible] 'राम' [illegible] आदि के [illegible], यहाँ [illegible] नहीं।

इन विभक्तियों की जगह [illegible] प्रयोग भी होते हैं—

त्वदीयः पुत्रः जातः—तेरा लड़का हुआ
त्वदीया कन्या जाता—तेरी लड़की हुई
त्वदीयाः नन्दनाः जाताः सन्ति—तेरे लड़के हुए हैं

ये प्रयोग [illegible] हैं। [illegible]

[illegible]

[illegible]—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

राम के लडकी हुई

और —

राम की लडकी पढती है

हिन्दी मे 'का' 'रा' 'ना' को विभक्ति समझा जाता रहा है। 'भेदक' के अनुसार इन के वहुवचन 'के' 'रे' 'ने' तथा स्त्रीलिङ्ग 'की' 'री' 'नी' रूप वतला कर भी इन्हे विभक्ति कहा जाता रहा है। सो गलती है। ये सवन्ध-प्रत्यय है, तद्धित-प्रत्यय है, जो सवन्ध प्रकट करते है। और 'के' 'रे' तथा 'ने' हिन्दी की सवन्ध-विभक्तियाँ है, जो भेदक के अनुसार वदलती नही है—

अपने तो चार गौएँ है
तुम्हारे एक भैंस है
उन के एक बैल है
राम के चार बकरियाँ है
तेरे लड़की हुई, आदि

ये 'के' 'रे' तथा 'ने' विभक्तियाँ लोगो को अज्ञात थी। इसी लिए झमेला था और लोग कुछ का कुछ कहते थे।

दिशा-वाचक शब्दो के योग मे सबन्ध-विभक्ति का ही प्रयोग होता है, सबन्ध-प्रत्यय का नही—

राम के बाई और

तेरे दाहिनी ओर

'ओर' शब्द सामान्य दिशा-वाचक है, जिस के विशेषण है— 'बायाँ'-'दाहिना'। 'ओर' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, इस लिए उस के विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग—'बाई' 'दाहिनी'। 'किस के बाई ओर' और किस के 'दाहिनी ओर'?

राम के बाईं ओर

गोविन्द के दाहिनी ओर

संस्कृत का 'दिशा' शब्द भी (हिन्दी के 'ओर' की ही तरह) सामान्य—दिशा-वाचक है। लेकिन 'दिशा' या 'ओर' शब्द किसी विशेष दिशा को नहीं बतला सकते। इस लिए इन के विशेषण दिए जाते हैं—

'दक्षिणस्यां दिशायाम्' 'उत्तरस्यां दिशि'

इसी तरह हिन्दी में

'दक्षिण की ओर' 'उत्तर की ओर'

'दक्षिण की' 'उत्तर की' विशेषण हैं 'ओर' शब्द के। लेकिन षष्ठ्यन्त विशेषण समझिए। संस्कृत में इनकी [illegible] विशेषण है।

सो 'राम के बायीं ओर' 'राम के बाईं ओर' आदि में 'ओर' शब्द परिनिष्ठित नहीं है। ये विभक्ति के सम्बन्ध [illegible] गया है। परन्तु [illegible]

और—

[illegible]

[illegible]

इसी लिए 'ओर' का विशेषण स्त्रीलिङ्ग—'राम की ओर'। 'राम को देखो' मे 'राम' कर्म कारक है, दिशा नही।

ये सब बाते व्याकरण की है। प्रसग-प्राप्त चर्चा है। इतना समझ लेना चाहिए कि 'राम की बगल मे गोविन्द का घर है' और 'राम को लडकी हुई' जैसे प्रयोग गलत है। 'राम को कै हुई' ठीक है, 'राम को लडकी हुई' गलत।

'शाह और बेगम सुरैया विमान से उतरीं'

इस तरह के प्रयोग देखने में आते है, जो हिन्दी-व्याकरणो के उस 'नियम' का पालन है, जिस मे कहा गया है कि वाक्य मे अनेक कर्ता-कारक हो, तो अन्तिम कर्ता के अनुसार क्रिया के लिङ्ग-वचन आदि होते है। परन्तु ऊपर उद्धृत वाक्य गलत है। व्याकरण के उस 'नियम' का अपवाद देना यदि व्याकरणकार भूल गया, या उसे भाषा की गति-विधि का पूरा पता नही, तो भाषा उस की परवा न करे गी, अपने रास्ते जाए गी। स्त्री और पुरुष कर्ता-कारक के रूप मे एक जगह हो, तो क्रिया पुल्लिङ्ग हो गी, स्त्री कर्ता का प्रयोग अन्त मे होने पर भी क्रिया उस के अनुसार न हो गी। हिन्दी की ब्रजभाषा तथा अवधी जैसी साहित्य-समृद्ध 'बोली'-बहनो की भी यही' स्थिति है—

'देखि रूप मोहे नर-नारी'

तुलसी का प्रयोग है। 'नारी' का प्रयोग अन्त मे होने पर भी क्रिया पुल्लिङ्ग है—'मोहे'। ब्रजभाषा में—'सबै ग्वाल गोपी मुरझाए'—'मुरझाई' नही। हिन्दी के महान्

स्त्रीलिङ्गों में प्रयोग किए हैं — [illegible] और [illegible] हैं — [illegible] । [illegible] स्त्रीलिङ्ग [illegible] । [illegible] में [illegible] है । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] स्त्रीलिङ्ग [illegible] । [illegible] है ।

स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग [illegible] पुल्लिङ्ग [illegible] है । [illegible] में 'अकारान्त' प्रयोग पुल्लिङ्ग [illegible] है । [illegible] है । [illegible] । [illegible] है । [illegible] । [illegible]

थे' मे 'बच्चे' के साथ 'बच्चियाँ' भी समझी जाती है, पर 'बच्चियाँ खेल रही थी' मे 'बच्चियाँ' कहने से 'बच्चे' यानी 'लडके' गृहीत नही। हाँ, एकवचन 'बच्चा खेल रहा था' कहे, तो उस से पु० प्रतीत हो गा। यानी यहाँ 'बच्चा' शब्द सामान्यरूप से प्रयुक्त नही है। 'उतरे' और 'उतरी' ऐसा एक ही वाक्य मे क्रिया का द्विरूप प्रयोग अच्छा न लगे गा, इस लिए सामान्य प्रयोग 'उतरे'। इसी तरह 'कश्यप और अदिति प्रणाम करते है' कहने से क्रिया का अन्वय उभयत्र हो जाता है। सो, 'शाह और बेगम सुरैया विमान से उतरे' शुद्ध प्रयोग है और ऊपर जो हम ने विवेचन दिया है, उसे ध्यान में रखने से खटक भी न मालूम हो गी। 'मथुरा' 'गया' आदि नगर-वाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग है। साधारण जन भी 'आगरे का दालमोठ' और 'मथुरा के पेडे' कहे गा। 'आगरा' पुल्लिङ्ग है, इस लिए विभक्ति लगने पर अन्त्य 'आ' 'ए' बन जाए गा और 'मथुरा' स्त्रीलिङ्ग, इस लिए ज्यो का त्यो रहे गा, 'मथुरे के पेडे' न हो गा। ऐसे कोई नियम साधारण जनो ने कही नही पढे है, फिर भी वे वैसा व्यवस्थित बोलते है और उसी के अनुसार व्याकरण बनता है। परन्तु साधारण जन और हिन्दी के विद्वान् भी रेल में बैठे हुए कह देतेहै—'मथुरा निकल गया'? तब यह वाक्य गलत न समझा जाए गा, क्योकि 'मथुरा' से उन का मतलब है—'मथुरा स्टेशन'। इसी तरह 'मथुरा भी देख लिया' समझिए। 'मथुरा' याने 'मथुरा शहर'। इसी तरह 'शाह और बेगम सुरैया विमान से उतरे' मे उन्हे कोई खटक न हो गी, जो भाषा-पद्धति से परिचित है।

[illegible] भाषा ('[illegible]') 'हाथी' के [illegible] है और यह 'हाथी' शब्द [illegible] है ? [illegible] जैसे किसी व्यक्ति के मन में 'अमुक चिह्न' [illegible] है [illegible] उस [illegible] समझता है और ठीक [illegible] है—'अमुक चिह्न नहीं [illegible] है पर इस [illegible] का [illegible] है [illegible] [illegible] किसी [illegible] है। [illegible] हिन्दी का [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] लिखना भी ऐसी बात [illegible]। भाषा का [illegible] देखना चाहिए।

'हिन्दी शिक्षा का माध्यम हो या'

किसी कारण से प्रवाह का रुख किसी नगर की ओर हो जाए, तो उसे बचाने का उद्योग करना हो गा और प्रवाह को पूर्ववत् करना हो गा , जैसे 'छह' की जगह हिन्दी-लेखको मे 'छ' चल पडा था और उसे फिर 'छह' किया गया। पुन 'छह' न करने से खतरा था कि किसी दिन लोग 'ग्यारह' 'वारह' आदि को भी 'ग्यार' 'वार' जैसा न लिखने लगें ! 'वेहूदह' आदि को तो 'वेहूद' जैसा लिखने भी लगे थे, 'ज्यादह' को 'ज्याद' या 'जियाद' लिखते थे ! यानी उर्दू के 'ह' ('हे') की जगह भी विसर्ग ! हिन्दी मे यह धाँधली आगे वढती ही जाती, यदि कस कर न रोकी जाती। सो 'प्रमाणवत्त्वादायात प्रवाह केन वार्यते ?' उस प्रवाह को कौन वदल सकता है, जो स्वत सिद्ध हो, प्रामाणिक हो। परम्परा या धारा ही भाषा के लिए परम प्रमाण है। 'राम को रोटी खानी है' जैसे प्रयोगो मे 'को' विभक्ति कर्ता-कारक में लगती है , 'राम ने रोटी खाई' मे 'ने' काम देती है और 'राम से रोटी नही खाई जाती' मे 'से' विभक्ति कर्ता-कारक मे है और ये तीनो ही वाक्य 'कर्म-वाच्य' क्रिया से हे। तीनो ही कर्म-वाच्य है, तब भिन्न विभक्तियाँ क्यो, सर्वत्र एक होनी चाहिए , इस तरह की वात सोच कर यदि कोई सर्वत्र एक ही विभक्ति (को, ने, या से) चलाना चाहे, तो लोग उसे मूर्ख कहें गे। कहे गे भाषा का प्रवाह ही वैसा है। उसे कोई बदल नही सकता। सोचने से प्रवाह तर्क-सगत भी जान पडे गा। तीनो तरह के वाक्यो मे अर्थगत विशेषता है और वह विशेषता विभिन्न विभक्तियो से प्रकट होती है, क्रिया के रूप-भेद से भी। 'खाई', 'खानी है', खाई

'नेताओ को रिहा करना मूर्खता हो गी'

'अभी से कुछ कहना जल्दबाजी हो गी' इत्यादि।

वर्मा जी ने लिखा है कि ऐसी जगह 'करना' और 'कहना' आदि उद्देश्यो के अनुसार पुल्लिङ्ग क्रियाएँ चाहिए—'रिहा करना मूर्खता हो गा' और 'कहना जल्दबाजी हो गा' आदि। उन्हो ने लिखा है कि इस तरह लिखने-बोलने मे कुछ खटक जरूर हो गी, पर शुद्ध लिखने के लिए उसे सहन करना चाहिए। वर्मा जी के इस प्रतिपादन से वैसे प्रयोग चले, जिन का निराकरण मुझे करना पड रहा है। उन की 'अच्छी हिन्दी' देश भर की परीक्षाओ मे लगी है, इस लिए प्रचार हो गया। उस के निराकरण मे मै ने 'अच्छी हिन्दी का नमूना' पुस्तक लिखी, तब प्रवाह रुका। वर्मा जी ने आगे अपनी पुस्तक मे बहुत कुछ सशोधन किए, फिर भी भ्रम तो फैला ही।

उद्देश्य के अनुसार क्रिया होती है, सही है। एक नियम है। उस नियम का अपवाद है ऐसा स्थल, जहाँ भाव-वाचक सज्ञाएँ उद्देश्य रूप मे प्रयुक्त हो। उद्देश्य और विधेय 'कारण-कार्य' या 'हेतु-हेतुमान्' या 'आरोप्य-आरोप्यमाण' आदि रूपो से भी रहते है—

'ककडी हैजा बन जाए गी'

कारण-कार्य भाव है। ककडी हैजे का कारण है, इस लिए उस (ककडी) मे उस बीमारी (हैजे) का आरोप है।

'लकडी राख बन जाती है'

यहाँ परिणामी-परिणाम भाव है। लकडी राख के रूप में परिणत हो जाती है।

'[illegible]'

[illegible] है। [illegible] है। [illegible]

'[illegible]'

[illegible] है। [illegible]

[illegible] मम्मति [illegible]—

[illegible]

[illegible]—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

उत्तर मे साधारणत यही कहा जा सकता है कि भापा की ऐसी प्रवृत्ति है। ऐसा ही होता है। परन्तु हम आप को कुछ आगे ले जा सकते है, यदि उकता न गए हो। वाते तो बहुत सक्षेप मे वताई जा रही है।

तो, सुनिए यह भी सक्षेप में। कृदन्त क्रियाओ मे (हिन्दी मे) स्त्रीलिङ्ग–पुल्लिङ्ग रूप-भेद होते है, सस्कृत मे नपुसक लिङ्ग भी। इस प्रसग मे यह भी समझ लीजिए कि यह स्त्रीलिङ्ग–पुल्लिङ्ग है क्या चीज!

प्रारम्भ में, जव भापा–उद्भेद हुआ हो गा, तो निश्चय ही पहले अपने वच्चो के नाम रखे गए हो गे। अ-आ, इ-ई, उ-ऊ का क्रम है। लडके का नाम रखा गया—'राम'। आगे 'आ'—लडकी का नाम 'रमा'। इसी तरह लडका 'हरि' और लडकी 'सरस्वती'। 'उ'-'ऊ' मे भी पुस्त्री-भेद इसी तरह। अव भाषा आगे वढी–वोला जाने लगा–पर्वत-धारा, वृक्ष-लता, पवि-नदी आदि।

जव व्याकरण वना और शब्दो का श्रेणी-विभाजन हुआ, तो 'राम' जैसे शब्द ('पर्वत' 'वृक्ष' आदि) 'पुल्लिङ्ग' कहलाए। इन (पर्वत–वृक्ष आदि) मे अन्त्य चिन्ह ('लिङ्ग') 'अ' 'राम' जैसा ही है, इस लिए ऐसे शब्द पुल्लिङ्ग और 'लता' 'धारा' आदि की बनावट 'रमा' की तरह है, इस लिए ये स्त्रीलिङ्ग। इसी तरह आगे समझिए। परन्तु अव तक 'वनम्' 'जलम्' जैसे शब्द भी चल पडे थे, जो न 'राम' जैसे और न 'रमा' जैसे ही। न पुल्लिङ्ग, न स्त्रीलिङ्ग! ऐसे शब्दो की एक अलग श्रेणी बना दी गई—नपुसक लिङ्ग। न

[illegible] । [illegible] — [illegible] । [illegible] और [illegible] है । [illegible] — [illegible] और [illegible] है ।

[illegible] । [illegible] और [illegible] । [illegible] ([illegible]) [illegible] । [illegible] और [illegible] है । [illegible] ।

[illegible] । [illegible] है । [illegible] — [illegible] और [illegible] है [illegible] — [illegible] । [illegible] ! [illegible] — [illegible] — [illegible] । [illegible] । [illegible]

[illegible] — [illegible] । [illegible] — [illegible] — [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]

'करना' आदि मे पुस्त्व नही है। क्रिया-मात्र मे स्त्रीत्व-पुस्त्व नही है, फिर यह तो 'भाव'–शब्द है। क्रिया मे पुस्त्व-स्त्रीत्व स्वत नही, परत आरोपित होते है।

करना, कहना, अध्ययन आदि भाव-वाचक सज्ञाओ मे लिङ्ग-सख्या आदि की तात्त्विक स्थिति है ही नही, पुस्त्व और एकवचन केवल कहने भर को है। तव फिर क्रिया के लिङ्ग-वचन इस के अनुसार कैसे रहें? 'क्रिया' ही 'कहना' आदि के रूप में है, तव इस ('क्रिया') के अनुसार 'हो गा' रूप कैसे हो! क्रिया के अधीन क्रिया ठीक नही। 'मूर्खता' भी भाववाचक सज्ञा है, पर तद्धित, कृदन्त नही। 'मूर्खता' 'शुद्ध धात्वर्थ' क्या, किसी भी तरह धात्वर्थ नही है। इस लिए इसी के अनुसार क्रिया—'नेताओ को रिहा करना मूर्खता हो गी'। जो भी हो, 'नेताओ को रिहा करना मूर्खता हो गा' कहना मूर्खता ही है। भाषा-प्रवाह के विरुद्ध है। सीधी वात को विगाडने का उद्योग करना भी आजकल एक सेवा है!

'भेद्य' और 'भेदक'

'विशेषण' और 'विशेष्य' ही क्षेत्र-विशेष मे 'भेदक' तथा 'भेद्य' कहे जाते है। 'विशेष्य' से उस का विशेषण पृथक् नही—किसी की विशेषता अलग कैसे हो गी? विशेष्य पुल्लिङ्ग, तो विशेषण भी पुल्लिङ्ग और वह स्त्री-लिङ्ग, तो उस का विशेषण भी वैसा ही। 'वचन' आदि भी इसी तरह। 'लाल धोती' मे लाल रग धोती के अनुसार ही तो है न? लबाई-चौडाई में उसी के अधीन। स्वय (रग) न लबा है,

[illegible]

[illegible]

(निर्धारित-युत) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

गलत। 'रचना हमारे लिए प्रेरणा-स्रोत है' कर दे, तो खटक भी मिट जाए गी और भाषा भी गलत न हो गी।

× × ×

दैनिक पत्रो मे अनुवाद भी बहुत गलत कभी-कभी देखने मे आता है। सभी भाषाओ का अपना-अपना स्वतत्र गठन होता है। वाक्य-गठन अलग-अलग ढँग से होता है। सस्कृत मे 'सयोजक' अन्तिम शब्द के अन्त मे जाता है और हिन्दी मे पहले रहता है—

राम, गोविन्द, माधवश्च

राम, गोविन्द और माधव

× × ×

राम गोविन्दश्च

राम और गोविन्द

× × ×

इसी तरह विभक्ति आदि की स्थिति समझिए। १७ अगस्त १९५७ के 'नव भारत टाइम्स' मे एक समाचार छपा है—

"आनन्द भिक्षु, जिन्हे ११ अगस्त को चडीगढ मे, आर्य-समाज-मन्दिर से गिरफ्तार किया गया था, की दशा अत्यन्त चिन्ताजनक है"।

ये ऐसे वाक्य एकदम भ्रष्ट है। 'भिक्षु' कहाँ है और 'की' कहाँ है। पढने वाला 'की' पढ कर पीछे ढढता फिरे गा कि यह किस की चीज है। यह अग्रेजी-वाक्यो के अनुवाद मे 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' बहुत भद्दी चीज है। "आनन्द भिक्षु की दशा अत्यन्त चिन्ता-जनक है। आप को चडीगढ-(आर्यसमाज-

[illegible]

क्रियाओं के प्रयोग

[illegible]

"ईदोत्सव का आरम्भ दिल्ली की विभिन्न १०० मस्जिदो मे नमाज से हुआ, जिन मे ऐतिहासिक जामा-मस्जिद तथा हजरत निजामुद्दीन के दरगाह प्रमुख थे।"

'थे' की जगह 'है' चाहिए। नमाज हो गई, पर ये स्थान अब भी है—'थे' नही। 'ईदोत्सव' भी गलत है।

कही भूतकाल ठीक होने पर स्त्रीलिङ्ग की जगह पुल्लिङ्ग क्रिया में लोग कर देते है। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के २६ मई १९५७ वाले अक मे एक जगह पक्तियाँ है —

"पुश्किन की अमर कृतियाँ समस्त मानव जाति की प्रगति मे आगे की तरफ एक कदम था।"

'था' की जगह 'थी' चाहिए। उद्देश्य 'कृतियाँ' है। कृतियाँ थी, एक कदम, आगे की तरफ।

हम ने ऊपर जिन पत्रो के नाम लिए है और जिन के उद्धरण दिए है, वे भाषा के सवन्ध मे काफी सतर्क रहते है। इसी इसी लिए तो उन के नाम उदाहरणार्थ लिए है। जब वहाँ ऐसी गलतियाँ हो जाती है, तब दूसरो का कहना ही क्या। आचार्य कुन्तक ने महाकवि कालिदास की कविताओ पर सूक्ष्म विवेचन कर के कुछ औचित्य-मीमासा बारीकी से की है और फिर लिखा है—"एतच्चैतस्यैव कवे सहजसौकुमार्यमुद्रित-सूक्तिपरिस्पन्दस्य पर्य्यालोच्यते, न पुनरन्येषामाहार्यमात्र-काव्यकरणकौशलश्लाघिनाम्"—यह सूक्ष्म विवेचन केवल कालिदास जैसे रस-वर्षी कवि की ही रचना पर उचित है। जो जोड-गाँठ कर के कवि बनने पर फूले नही समाते, उन की वह जोड-गाँठ ऐसे विवेचन की हकदार नही। सफेद-साफ

या बोली) के अनुसार। 'पोषक भोजन' मे 'पोषक' पुल्लिङ्ग है और 'पोषक खाद्य-सामग्री' में 'पोषक' स्त्रीलिङ्ग। इसी तरह भाषा 'पोषक' समझिए, विधेय विशेषण। हिन्दी की पोषक व्रजभाषा और अवधी। परन्तु 'अग' शब्द नियत पुल्लिङ्ग है। इस लिए 'व्रज और अवधी हिन्दी की अग' नही, 'के अग' चाहिए। वैसे 'अग' बताना ठीक भी नही, 'सगी बहनें' कहना चाहिए। 'अग' की जगह 'अगस्थानीय' कर दे, तो व्याकरण-सबन्धी गलती हट जाए गी। 'स्थानीय शासन' मे 'स्थानीय' पुल्लिङ्ग है और 'स्थानीय बोली' मे 'स्थानीय' स्त्रीलिङ्ग। 'हिन्दी की अगस्थानीय है अवधी और व्रजभाषा'' यह प्रयोग व्याकरण-शुद्ध है।

× × ×

हिन्दी के शुद्ध और टकसाली प्रयोग है—

'अपनी इच्छानुसार आप काम करें'

'आप की आज्ञानुसार मै काम करूँ गा'

काशी के बहुत से विद्वान् कहते है कि ये प्रयोग गलत है। वे कहते है कि शुद्ध प्रयोग ये है —

'अपने इच्छानुसार आप काम करे'

'आप के आज्ञानुसार काम मै करूँ गा'

कहते है, इस तरह बोलने मे कुछ खटक तो जरूर है, पर शुद्ध प्रयोग ये ही है।

हम कहते है कि 'खटक' जहाँ हो, समझ लो कि गलती है, गडबड है। आखिर खटक होती क्यो है? प्रवाह-विरुद्धता ही खटक का कारण है और वही गलती है। प्रवाह माने जनता

परन्तु वहुत वडे विद्वानो का यह समझ लेना भ्रम है कि 'अनुसार' शब्द पुल्लिङ्ग है। कैसे समझा कि 'अनुसार' पुल्लिङ्ग है ? 'अनुसार खट्टा है, मीठा है' जैसे प्रयोग तो होते नही है। 'अनुसार (शब्द) कर दिया' जैसे सामान्य प्रयोग है, जैसे "प्राय· (शब्द) निकाल दिया" मे 'प्राय' का पुप्रयोग। 'प्राय' अव्यय है, पुल्लिङ्ग नही, परन्तु वोलने मे कुछ तो वोला ही जाए गा। सो, सामान्य प्रयोग के लिए हिन्दी मे पुल्लिङ्ग रहता है। 'तुम ने 'प्राय' हटा दिया, अच्छा किया'। इसी तरह 'अनुसार कर दिया, ठीक किया'। इस सामान्य प्रयोग से 'अनुसार' पुल्लिङ्ग सज्ञा कैसे हो जाए गा ? हाँ, 'अनुसरण' अवश्य सज्ञा है, पुल्लिङ्ग है—'सीता ने राम का अनुसरण किया'। 'सीता ने राम का अनुसार किया' कोई नही बोलता।

सो, हिन्दी मे 'अनुसार' अव्यय है और समास में अन्त मे रहता है। सस्कृत मे 'यथा' का पूर्व-प्रयोग होता है—'यथामति'। हिन्दी मे 'मति-अनुसार राम-गुन गाऊँ'। जब 'अनुसार' अव्यय है, तव तत्पुरुष-समास का वह नियम यहाँ करे गा क्या ? जिस मे पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग कुछ भी नही, वह 'भेदक' को तथा क्रिया को अपने अनुसार क्या खाक चलाए गा ? कैसे चलाए गा ?

स्पष्ट भेद समझिए। सज्ञा और अव्यय के प्रयोग मे अन्तर है। सज्ञा में ('भेदक'-रूप से) सवन्ध-तद्धित प्रत्यय का प्रयोग होता है—

राम का अनुसरण
तेरा अनुसरण

राम के उधर, सीता के इधर

'उधर' अव्यय है, न स्त्रीलिङ्ग और न पुल्लिङ्ग । न एकवचन, न बहुवचन । सो, उस के योग मे सज्ञा का प्रयोग 'के' 'रे' 'ने' विभक्तियो से होता है । परन्तु सज्ञा के साथ 'भेदक' (तद्धित-प्रत्यय) रहता है ।

मतलब यह कि 'आप की आज्ञानुसार' आदि प्रयोग शुद्ध है और 'आप के आज्ञानुसार'–'अपने इच्छानुसार' है भ्रष्ट । एकदम गलत ।

'आवश्यकतानुसार' 'आज्ञानुसार' आदि मे हिन्दी का 'अव्ययीभाव' समास समझिए । तत्पुरुष समास सज्ञा का सज्ञा के साथ होता है । सस्कृत मे 'अनुसार' चाहे जो हो, हिन्दी में अव्यय है और समास मे उस का पर–प्रयोग होता है । हिन्दी की यह 'अपनी' पद्धति है । सस्कृत मे 'यथादेशम्' 'यथाज्ञम्' 'यथाशक्ति' जैसे अव्ययीभाव चलते है । 'यथाशक्ति' जैसे तत्सम हिन्दी ने भी ले लिए है , क्योकि 'शक्ति-अनुसार' से 'यथाशक्ति' सरल पडता है, छोटा शब्द है । परन्तु 'यथादेश' जैसे शब्द गृहीत नही और 'यथाज्ञ' तो बिलकुल ही नही ।

सस्कृत में 'अनुसार' भी चलता है—'आज्ञानुसारेण सर्वं-कृतम्'—'आज्ञानुसार सब कर दिया' । सस्कृत में 'आज्ञा-नुसारेण' मे तीसरी विभक्ति है , पर हिन्दी कोई विभक्ति नही लगाती । सो, सस्कृत मे 'अनुसार' चाहे जो हो, हिन्दी में निश्चय ही अव्यय है । अन्यत्र भी हिन्दी ने स्वतत्र पद्धति अपनाई है । 'आगच्छति' का पूर्वांश 'आ' उपसर्ग है । हिन्दी ने सस्कृत के इस उपसर्ग को ले कर 'धातु' बना लिया–

तब ठीक। तब उसे 'नीति' कहना भी ठीक। परन्तु तर्क के साथ व्याकरण, भाषा-विज्ञान और परम्परा आदि सभी तत्त्व यदि किसी दूसरे पक्ष के समर्थक हो, तो फिर 'तर्क-सम्मत' नीति पर भी पुन विचार करना हो गा। कोई 'पचम वर्ण' मात्र देने की नीति वरतता है और 'नगा' को भी 'नङ्गा' लिखता है, तो कोई सर्वत्र अनुस्वार ही चलाने की नीति पर है और 'दन्त' को 'दत' ही नही, 'वेदान्त' को भी 'वेदात' लिखता है, 'वेदान्ती' को 'वेदाती'। 'वेदाती' 'वेदाँती' ही समझिए! दीर्घ स्वर पर हिन्दी मे अनुस्वार का उच्चारण अनुनासिक जैसा ही होता है और इसी लिए अनुनासिक उच्चारण मे भी अनुस्वार दे देते हैं—'ईट' 'छीट' आदि! इस लिए 'वेदात'-प्रकाशनो मे यही सब है। सर्वत्र अनुस्वार! हिन्दी मे 'न' और 'म' अनुनासिक वर्ण गृहीत है, तव 'दन्त' 'पम्प' क्यो न लिखे जाएँ? कम-से-कम सस्कृत शब्दो का ध्यान तो रखना ही है। परन्तु 'एक नीति' मे यह सब वह जाता है! तो भी, 'पराङमुख' जैसे शब्द उस नीति से बाहर! 'सभा' के प्रकाशनो मे 'पराङ्मुख' को 'परामुख' नही किया जाता है। तव वह 'नीति' कहाँ रही? इस सबन्ध मे हिन्दी की नीति क्या है, पीछे लिख आए है। यहाँ तो प्रासगिक चर्चा!

चर्चा थी 'हाल हीमे' आदि की। कलकत्ते के 'नया-समाज' मे तथा अन्यत्र भी कही-कही ऐसे भ्रष्ट प्रयोग देखने मे आते है —

'हाल हीमे नेहरू जी विदेश से लौटे है'

'हाल हीकी एक घटना है—'

है। यदि विभक्ति अन्तिम प्रातिपदिक से चिपका दी जाए, तो फिर वह पीछे 'राम' तथा 'गोविन्द' से अन्वित न हो गी। इस लिए 'सटाऊ' पद्धति वालो को लिखना हो गा—'रामको, गोविन्दको और माधवको'। 'राम, गोविन्द और माधव पर मेरा विश्वास नही' वाक्य में 'पर' का अन्वय पीछे के प्रातिपदिको से भी है। परन्तु विभक्ति को एक जगह जकड देनेवालो को लिखना हो गा—

'रामपर, गोविन्दपर और माधवपर मेरा विश्वास नही'

कैसा सुन्दर सुश्राव वाक्य है? सस्कृत मे विभक्तियाँ सटा कर लिखी जाती है और इसी लिए—

'रामे, गोविन्दे, माधवे च मे विश्वास'

प्रयोग होता है। सर्वत्र विभक्तियाँ। अन्तिम प्रातिपदिक मे ही विभक्ति लगाने से काम न चले गा—

'राम, गोविन्द, माधवे च मे विश्वास'

प्रयोग न हो गा। यानी सप्तमी विभक्ति 'माधव' से बँधी है, इस लिए उस का अन्वय 'राम' तथा 'गोविन्द' से सम्भव नही। निर्विभक्ति पद 'राम' तथा 'गोविन्द' अधिकरण कारक नही, ,सबोधन' समझ लिए जाएँ गे। यदि एक ही विभक्ति से सब का अन्वय करना अभीष्ट हो, तो 'च' हटा कर तदर्थ द्वन्द्व समास कर के कहना हो गा—

'रामगोविन्दमाधवेषु मे विश्वासो नाऽस्ति'

परन्तु यो समास कर देने से जोर घट जाए गा। इस लिए 'रामे, गोविन्दे, माधवे च' वाक्य में अधिक अच्छा रहे गा—सर्वत्र विभक्ति का प्रयोग। हिन्दी में भी आप—"रामपर,

ोविन्दपर और माधवपर" लिख सकते है, परन्तु 'राम, ोविन्द और माधवपर' नही। दो मार्ग है, 'येनेष्ट तेन म्यताम्'—अपनी पसन्द का रास्ता पकडिए, पूरी तरह। टा कर विभक्ति लिखने वालो को—"एक 'एम० एल० ए०' े वात करना' ठीक न रहे गा। "एक एम० एल० ए०" से 'ने' विभक्ति को सटाना हो गा। वे फिर "हिन्दी की 'की' की चर्चा" न कर सके गे—"हिन्दीकी 'कीकी' (या 'की'–की) चर्चा" करें गे! सिद्धान्त पूरा चले गा। 'को' को छोड दो' न लिख कर 'कोको छोड दो' लिखना हो गा।

इन सब झझटो से वचने के लिए विभक्तियो को प्रातिपदिको से हटा कर ही लिखना अधिक अच्छा। हिन्दी की प्रवृत्ति भी यही है। 'वाजा वजाने वालो को' आदि मे 'वाला' प्रत्यय का प्रयोग भी हटा कर देखा जाता है। मिला कर भी लिखते है—'वजानेवालो को'। परन्तु विभक्ति भी सटा दे, तो 'वजानेवालोको' लवा वन जाए गा! अच्छा लगे, तो लिखिए। परन्तु—

'गाडी छूटने ही को थी कि मै पहुँच गया'
'वह आने ही वाला था कि राम चला गया'

इस तरह के प्रयोग होते है, जिन मे प्रकृति ('छूटने') और विभक्ति ('को') के वीच मे 'ही' अव्यय घुस आया है और 'आना' प्रातिपदिक के आगे भी 'ही' जम गया है 'को' विभक्ति को दूर हटा कर! तव वह सटाऊ सिद्धान्त कहाँ रहा? सँभाल कर 'छूटनेको ही' तथा 'आनेवाला ही' करे, तव काम चल जाए गा क्या? जोर वना रहे गा? और 'आने ही वाला था'

है। यदि विभक्ति अन्तिम प्रातिपदिक से चिपका दी जाए, तो फिर वह पीछे 'राम' तथा 'गोविन्द' से अन्वित न हो गी। इस लिए 'सटाऊ' पद्धति वालो को लिखना हो गा—'रामको, गोविन्दको और माधवको'। 'राम, गोविन्द और माधव पर मेरा विश्वास नही' वाक्य में 'पर' का अन्वय पीछे के प्रातिपदिको से भी है। परन्तु विभक्ति को एक जगह जकड देनेवालो को लिखना हो गा—

'रामपर, गोविन्दपर और माधवपर मेरा विश्वास नही'

कैसा सुन्दर सुश्राव वाक्य है? सस्कृत में विभक्तियाँ सटा कर लिखी जाती है और इसी लिए—

'रामे, गोविन्दे, माधवे च मे विश्वास'

प्रयोग होता है। सर्वत्र विभक्तियाँ। अन्तिम प्रातिपदिक मे ही विभक्ति लगाने से काम न चले गा—

'राम, गोविन्द, माधवे च मे विश्वास'

प्रयोग न हो गा। यानी सप्तमी विभक्ति 'माधव' से बँधी है, इस लिए उस का अन्वय 'राम' तथा 'गोविन्द' से सम्भव नही। निर्विभक्ति पद 'राम' तथा 'गोविन्द' अधिकरण कारक नही, ,सबोधन' समझ लिए जाएँ गे। यदि एक ही विभक्ति से सब का अन्वय करना अभीष्ट हो, तो 'च' हटा कर तदर्थ द्वन्द्व समास कर के कहना हो गा—

'रामगोविन्दमाधवेषु मे विश्वासो नाऽस्ति'

परन्तु यो समास कर देने से जोर घट जाए गा। इस लिए 'रामे, गोविन्दे, माधवे च' वाक्य मे अधिक अच्छा रहे गा—सर्वत्र विभक्ति का प्रयोग। हिन्दी मे भी आप—"रामपर,

गोविन्दपर और माधवपर" लिख सकते है , परन्तु 'राम, गोविन्द और माधवपर' नही। दो मार्ग है, 'येनेष्ट तेन गम्यताम्'—अपनी पसन्द का रास्ता पकडिए, पूरी तरह। सटा कर विभवित लिखने वालो को—"एक 'एम० एल० ए०' से बात करना" ठीक न रहे गा। "एक एम० एल० ए०" से 'से' विभक्ति को सटाना हो गा। वे फिर "हिन्दी की 'की' की चर्चा" न कर सके गे—"हिन्दीकी कीकी' (या 'की'–की) चर्चा" करे गे! सिद्धान्त पूरा चले गा। 'को' को छोड दो' न लिख कर 'कोको छोड दो' लिखना हो गा।

इन सब झझटो से बचने के लिए विभक्तियो को प्रातिपदिको से हटा कर ही लिखना अधिक अच्छा। हिन्दी की प्रवृत्ति भी यही है। 'बाजा बजाने वालो को' आदि मे 'वाला' प्रत्यय का प्रयोग भी हटा कर देखा जाता है। मिला कर भी लिखते है—'बजानेवालो को'। परन्तु विभक्ति भी सटा दे, तो 'बजानेवालोको' लबा बन जाए गा! अच्छा लगे, तो लिखिए। परन्तु—

'गाडी छूटने ही को थी कि मै पहुँच गया'
'वह आने ही वाला था कि राम चला गया'

इस तरह के प्रयोग होते है, जिन मे प्रकृति ('छूटने') और विभक्ति ('को') के बीच मे 'ही' अव्यय घुस आया है और 'आना' प्रातिपदिक के आगे भी 'ही' जम गया है , 'को' विभक्ति को दूर हटा कर! तब वह सटाऊ सिद्धान्त कहाँ रहा ? सँभाल कर 'छूटनेको ही' तथा 'आनेवाला ही' करे, तब काम चल जाए गा क्या ? जोर बना रहे गा ? और 'आने ही वाला था'

का मतलब 'आनेवाला ही था' से निकल जाए गा ? उत्तर 'हाँ' मे हो, तब हमे कुछ कहना नही है। परन्तु 'न' मे उत्तर हो, तब 'सटाऊ'-सिद्धान्त गया!

इतना सब होने पर भी जो विभक्ति-प्रत्यय सटा कर ही लिखने का अभिनिवेश रखते है, रखे! परन्तु 'हाल हीमें' 'नेहरू तकमे' तो सर्वथा गलत है! विभक्ति प्रकृति (प्रातिपदिक) से मिलती है न ? 'हाल ही मे' पसन्द नही, विभक्ति सटा कर ही लिखनी है, तो फिर 'हालमे ही' लिखिए, 'नेहरूमे तक' लिखिए। 'ही' तथा 'तक' अव्यय है। इन मे विभक्ति कभी भी–किसी भी सिद्धान्त से—नही सट सकती। सुन लिया कि 'विभक्ति सटा कर लिखना चाहिए' और ले उडे! यह न सुना कि विभक्ति प्रातिपदिक से अन्वित होती है और (सटा कर लिखना हो, तो) वही सटती भी है।

पर बेचारे करे क्या ? भाषा की प्रकृति को क्या करे ? 'ही' आदि बीच मे आ कर कहते है कि विभक्ति का पृथक् प्रयोग होना चाहिए। यदि 'हाल हीमे' छोड कर, पूरी सावधानी से 'हालमे ही' जैसा भी लिखने लगे, तो—

'क्या बता दे हम अभी से'

या, 'क्या बता दे हम अभीसे'

जैसे प्रयोगो का क्या हो गा ? 'अब' के आगे 'से' विभक्ति चाहिए , पर 'ही' बीच मे है—अब+ही='अभी'। तो, प्रकृति ('अब') से विभक्ति कहाँ सटी ? अव्यय 'ही' मे सटी है—'अभीसे'। और ब्रजभाषा आदि में भी 'तू न तजै अबही ते' प्रयोग है—'अबते ही' नही।

कुछ भी हो, 'हाल हीमे' 'हाल हीका' जैसे प्रयोग सर्वथा गलत है , व्याकरण-विरुद्ध, सिद्धान्त-विरुद्ध और भ्रामक।

एक वात और। जो लोग विभक्तियाँ हटा कर लिखते है, वे भी सर्वनामो मे मिला कर ही लिखते है। 'राम पर मेरा विश्वाम' लिख कर 'उसपर मेरा विश्वास' लिखते है। 'राम से' लिख कर 'उससे' लिखते है। कहते है, सर्वनामो में विभक्ति सटा कर ही लिखनी चाहिए। पूछो कि नामो से हटा कर और सर्वनामो से सटा कर, इस द्वैविध्य का औचित्य क्या है ? लाभ क्या है ? तो, कहते है—'सिद्धान्त है'। 'सिद्वान्त' का आधार क्या है ? कहते है, ऐसा लिखा है। लिखा हो गा। उस लिखने का आधार क्या है, सोचना चाहिए। इस पर कुछ कहने से पहले एक वात और याद आई हुई कह दी जाए।

"एक वात इस सवन्ध ध्यान देने योग्य विशेपणो की भी है, जो मेरे पुत्र (चि० मधुसूदन) ने सुझाई है।" इस वाक्य मे कोष्टक के अश को विभक्ति सटा कर लिखने वाले कैसे लिखे गे ? 'ने' विभक्ति प्रकृति 'पुत्र' या 'चि० मधुसूदन' से सट कर है क्या ?। वह सुझाई हुई वात है विशेपणो की। जहाँ (सस्कृत–जैसी भापा मे) विभक्तियाँ सटा कर लिखी जाती है, वहाँ विशेपण मे भी विभक्ति लगाई जाती है , क्यो कि विशेष्य से वँधी-सटी विभक्ति से काम चलता नही, उस का अन्वय विशेपण से होता नही है। इसी लिए—

'मधुराणा फलाना वाटिका'

प्रयोग होता है और—

'मधुरैः फलैः तृप्तिः'

होता है। 'मधुर फलानाम्' या 'मधुर फलै' करने से काम न चले गा। 'फल' से सटी हुई विभक्तियाँ विशेषणो मे न लग सके गी। हाँ, समास कर के 'मधुरफलानाम्' तथा 'मधुरफलै' हो सकता है। परन्तु यह साझेदारी का काम वैसा जोरदार न रहे गा। समास, कृदन्त तथा तद्धित आदि मे पड कर अनेक जगह शब्दो का जोर कम हो जाता है। हिन्दी ने तो समास, कृदन्त तथा तद्धित का वाजिव ही वाजिव ग्रहण किया है। इसी लिए—

मीठे फलो की वाटिका
मीठे फलो से तृप्ति

प्रयोग होते है—समास के विना। यदि विभक्ति विशेष्य ('फल') से सटा दें—'फलोकी' 'फलोसे' तो फिर 'की' तथा 'से' का सबन्ध तत्त्वत विशेषणो से न हो गा, वैसे समझ तो लिया ही जाता है! गलत-सलत बोलने वाले की बात का भी मतलब तो लोग समझ ही लेते है। हिन्दी की ही तरह अग्रेजी आदि मे भी पृथक् विभक्ति रहती है और इसी लिए—'फ्राम स्वीट फ्रूट्स' चलता है। 'स्वीट' को वहुवचन सूचित नही किया जाता, विशेष्य के बहुवचन से ही वह कृतकृत्य हो जाता है।

यदि 'मीठे फलो की वाटिका' आदि को सस्कृत की पद्धति पर चलाएँ, तो—'मधुरफलाना वाटिका' की तरह हिन्दी मे—

'मीठेफलोकी बगीची'
या, 'मीठाफलोकी बगीची'

क्या रूप 'मीठा' आदि हिन्दी-विशेषणो का हो गा, इस का व्याकरण 'सटाऊ' पद्धति वाले ही बनाएँ गे। हम तो यह

से काम
में न
तथा
काम
आदि
हिन्दी
ग्रहण

वगोप्य
तथा
समझ
न का
तरह
ए-
नहीं
है।
ति
—

समझते है कि हिन्दी ऐसी जगह
पृथक् स्थित विशेषण मे भी वि
हुई विभक्ति आ ही जमती है।
करे, तो सस्कृत की तरह—

मीठोकी फलोकी वगीची—

मीठोसे फलोसे तृप्ति—(म

लिखना चाहिए। 'सिद्धान्त' तो

जो लोग सर्वत्र विभक्ति
सर्वनामो मे सटा कर, उन का त

वैसा द्वैविध्य करने का सम
ऐसा जान पडता है कि 'इसे-उसे'
रूप देख कर किसी पाश्चात्य वि
लिखा हो गा कि "सर्वनामो मे
जाती है, अन्यत्र नही।" उ
जैसे रूपो से ही था, पर यहाँ
रूपो के बारे मे भी समझ लिया
लिखने लगे। किसी ने अपनी
जा रहा हूँ, तुम सव ब्राह्मणो क
'सव' का अर्थ निरवच्छिन्न समझ
गए, सव को भोजन कराती

का मतलब 'सब निमन्त्रित' था, तुम ने गलत समझा। पत्नी शास्त्रार्थ को तयार हो गई! कुछ यही स्थिति पाश्चात्य-विवेचको की और इन हिन्दीवालो की भी है। यदि विभक्ति हटा कर ही लिखना है, तो 'उस को' लिखिए। 'यह'-'वह' आदि 'इस-उस' जैसे रूपो मे आ जाते है और ब्रज मे 'या'–'वा' जैसे रूपो मे—इसे-इस को, 'उसे-उस को' और 'याहि'-'याकौ' 'वाहि' 'वाकौ' आदि। ब्रज मे 'हि' की तरह 'को' 'कौ' आदि को भी मिला कर लिखने की चाल है। 'तामै' 'यामै' आदि। बहुत सम्भव है, 'यामै'–'वामै' आदि रूप देख कर ही किसी विद्वान् ने सब विभक्तियाँ सर्वनामो मे सटा कर लिखने का निर्देश किया हो। परन्तु ब्रजभाषा मे और राष्ट्रभाषा (हिन्दी) मे कुछ अन्तर है। ब्रज मे तो 'घरमै वनमै सब ओर कन्हाई' चलता है, पर हिन्दी में 'घर मे, वन मे' आप लिखते है। तब फिर 'उस में' क्यो नही? "और तब उस (पूर्व समागत अतिथि) को नमस्कार करना पडा" इसे कैसे लिखे गे? 'उसे' बहुत सुन्दर पद है, परन्तु कोष्ठक मे जो कुछ दिया है, उसे 'उसे' के साथ नही दे सकते। इसी लिए 'उस को'-'इस को' आदि भी गृहीत है, जो हिन्दी के 'अपने' रूप है। 'इसे' आदि ब्रजभाषा (—कन्नौजी आदि) की 'हिं' विभक्ति के रूप है। 'हि' विभक्ति सदा सट कर रहती है—'रामहि देखि न देखनो और'। यही 'हि' ह् लोप से और 'वृद्धि'–सन्धि से 'लरिकवै समझाय देव' आदि जन-बोलियो में है। लरिका—लरिकवा—इ (—हि) —'लरिकवै'। 'लरिकवै चलो जाय' (लडका ही चला जाए) मे 'लरिकवै' 'हि' विभक्ति से

नही है, निर्विभक्तिक कर्ता है—'लरिकवा-ही चलो जाय' विच्छेद है। यानी 'ही' अव्यय के 'ह्' का लोप और वही 'वृद्धि'-सन्धि। मतलव यह कि 'हि' का तथा उस के 'इ' रूप का प्रकृति से सट कर ही प्रयोग होता है। इसी लिए हिन्दी के 'इसे'-'इन्हे' आदि सश्लिष्ट रूप है। 'हि' को एकवचन मे हिन्दी ने निरनुनासिक कर दिया-'इसे'-'उसे'। जब 'करे' एकवचन अनुनासिक करने से वहुवचन हो जाता है, तव अनुनासिक को निरनुनासिक कर देने से एकवचन भी-'इसे'। अनुनासिक वहुवचन 'इन्हे'।

यह इतना प्रासगिक निवेदन। वैसे कोई विभक्ति सटा कर लिखे, या हटा कर, इस पर मेरी कोई विप्रतिपत्ति नही है, परन्तु सुविधा है अलग लिखने मे ही। 'विभक्ति' नाम भी सार्थक हो जाए गा, विभक्त लिखने से। 'इसे'-'उसे' तो माँगे की चीजे है। उन से विभक्ति कभी हट ही नही सकती, समझी भर जा सकती है।

'भाषण देना' और 'भाषण करना'

'राम ने भाषण करना मै अच्छा नही समझता' यहाँ 'भाषण करना' मे 'भाषण' कर्म नही है। 'भाषण करना' एक क्रिया है। 'मै आप से भाषण न करूँ गा'—मतलव 'मै आप से न वोलू गा'। 'भाषण करना'—वोलना, वात-चीत करना। 'मै भोजन करता हूँ' मे केवल 'करता हूँ' क्रिया नही है। 'भोजन' कर्म नही है। 'भोजन करना' एक क्रिया है। 'भोजन वनाता हूँ' मे 'भोजन' अवश्य कर्म है। यहाँ 'भोजन' सज्ञा है—रोटी, दाल, शाक

आदि 'भोजन'। 'बनाना'—तैयार करना। इसी तरह 'राम ने कलकत्ते मे जो भाषण दिया था, उस का प्रभाव बहुत अच्छा पडा' यहाँ 'भाषण' कर्म-कारक है। राम का उस समय का सम्पूर्ण व्याख्यान ('लेक्चर') 'भाषण'। इसी लिए 'स्वामी विवेकानन्द के पचीस-तीस भाषण वहाँ हुए थे' मे सख्या-निर्देश है। कोई-कोई 'भाषण देने' की जगह भी 'भाषण करना' लिखने लगे है—'प० जवाहरलाल नेहरू ने दिल्ली मे एक भाषण किया' 'नेहरू जी सभा मे भाषण कर रहे है' ये गलत प्रयोग है। 'भाषण दिया' 'भाषण दे रहे है' चाहिए।

हाँ, यहाँ 'भाषण करना' ठीक—'वे सभा मे बैठ कर व्यक्तिगत रूप से किसी के भी साथ जरा भी भाषण (या सभाषण) नही करते'।

'नेहरू जी ने जो भाषण दिया था' ठीक, 'जो भाषण किया था' नही ठीक। 'प्रवचन करना' ठीक, 'प्रवचन देना' नही। जो लोग कर्मण्य ऐसे है कि जो कहते है, वह करते भी है, उन के उपदेश 'प्रवचन'। जो दूसरो को उपदेश देने पर ही ध्यान रखते है, वे 'भाषण देते है'। जो कुछ कहते है, अपने जीवन मे भी उतारे, जरूरी नही। यही 'प्रवचन करने' मे और 'भाषण देने' मे अन्तर है। 'भाषण करना' अलग चीज है—परस्पर बात-चीत करना। परन्तु 'भाषण देना' अलग है। जब कोई भाषण देता है, तो देता ही चला जाता है। अपनी बात कहता चला जाता है। आपस मे बात-चीत करना एक बात है—भाषण परस्पर करना और 'बात अपनी ही कहते चले जाना'

दूसरी वात है—'भाषण देना'। सो, 'सभा मे नेहरू जी देश की परिस्थिति पर एक भाषण देगें' ठीक है; 'भाषण करेंगे' नही।

उपसंहार

मुख्य-मुख्य वाते कही गई। अन्य वातो के लिए अन्य पुस्तके देखनी चाहिए। पहले हिन्दी शुद्ध करो, तव अच्छी हिन्दी लिखो। कपडा रँगने से पहले धो कर साफ कर लेना चाहिए। छोटी-छोटी गलतियाँ भी सव कुछ विगाड देती है। 'प्रत्येक दूकानदारो से' देखा! चाहिए 'प्रत्येक दूकानदार से' 'हर एक दूकानदार से'। 'रेल चार घटो तक रुकी रही' नही, 'चार घटे तक रुकी रही' ठीक है। 'चार घटा' समय की एक इकाई है। 'चार वर्ष से वह पढ रहा है' ठीक है। परन्तु समय की अधिकता सूचित करनी हो, तो वहुवचन भी—'वह चार वरसो से पढ रहा है, पर पढा क्या, सो पूछिए!' परन्तु 'रेल चार घटो तक' ठीक नही। समय का आधिक्य तो 'तक' अव्यय ही वतला रहा है। 'वह चार वरस तक पढता रहा, पर सव वेकार!' यहाँ 'चार वरसो तक' ठीक न हो गा।

'एक शव्द सम्यग् ज्ञात सुप्रयुक्त
लोके स्वर्गे च कामधुग् भवति'

शव्द का सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग अभीष्ट-सिद्धि करता है।

पुस्तक का परिशिष्ट

अर्थ-संबन्धी भ्रम

'हिन्दी शब्द-मीमासा' शब्द-सवन्धी विचार के लिए है। अर्थ-सवन्धी विचार पुस्तक के विषय से वाहर की चीज है। किसी शब्द का गलत अर्थ मे प्रयोग करना भी गलती ही है, जिस का निर्देश 'साहित्य-निर्माण' मे मै ने किया है। परन्तु यहाँ हम प्रयोग करने की गलती पर नही, प्रयोग को गलत समझने पर कुछ कहना चाहते है। यह एक पृथक् विषय है और इस पर हम स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखने का विचार कर रहे है। उस का यह बीज-वपन समझिए। शब्द और अर्थ का सबन्ध है, इस लिए पुस्तक के विषय से यह चीज एकदम दूर भी नही है।

अर्थ समझने मे कभी-कभी सामूहिक रूप से गलती की जाती है, यानी पूरा समाज या देश वैसी गलती कर बैठता है, करता जाता है! एक गडबड बात ठीक करने के लिए, फिर सौ-सौ कल्पनाएँ झूठी करनी पडती है। कुछ नमूने लीजिए—

१—'त्रिवेणी' और 'वेणी'

'त्रिवेणी' का अर्थ लोग जाने कब से गलत समझ रहे है और कह रहे है कि गगा, यमुना तथा सरस्वती का सगम था, पर सरस्वती लुप्त हो गई! परन्तु सरस्वती नदी तो प्रयाग कभी आई ही नही! वाल्मीकि ने और कालिदास ने केवल

गंगा और यमुना का सगम वताया है। इस के वाद सरस्वती न जाने कैसे आ कूदी! ऐसे आ कूदी—सुनिए—

'वेणी' का अर्थ लोग 'नदी' समझने लगे! नदी का पर्याय 'वेणी' समझने लगे! तव 'त्रिवेणी' का अर्थ तीन नदियो का मेल किया जाने लगा! तीसरी नदी तो सामने थी नही और शब्द 'त्रिवेणी' सामने था, सो, कल्पना की गई कि तीसरी नदी सूख गई! सुन रखा था कि 'सरस्वती' नदी सूख गई है, वस, ले उडे कि सरस्वती नदी सूख गई, दो गगा-यमुना सामने है! सरस्वती सूख तो अवश्य गई, पर उत्तर प्रदेश को तो उस ने कभी छुआ भी नही! इधर आई ही नही! प्रयाग मे सगम कैसा?

वस्तुत दो नदियो के मिलने से सगम 'त्रिवेणी' है—तीन प्रवाह सामने दिखाई देते है। 'वेणी' का अर्थ 'प्रवाह' है, 'नदी' नही। एक प्रवाह गगा का, एक यमुना का और एक दोनो का सम्मिलित प्रवाह। यो तीन प्रवाह स्पष्ट है। प्रयाग कभी नही पहुँचे, तो उत्तर प्रदेश सरकार का राज-चिन्ह देख लीजिए। गगा-यमुना के सगम पर 'त्रिवेणी' है। राजचिन्ह की कल्पना किसी ने वहुत सुन्दर की है। जव १९३६ मे लखनऊ की विधान-सभा का भवन वना, तो किसी योग्य इंजीनियर ने उस के मुख द्वार पर यह चिन्ह अकित किया-कराया–'पावन गगा जमुना' का प्रदेश अपना। 'त्रिवेणी' अच्छा चिन्ह है। धनुष अवध की अपनी चीज है। मछलियाँ दो भावपूर्ण है। 'रघुवश' मे लिखा है कि अयोध्यानरेशो के राज-ध्वज मत्स्य-चिन्ह धारण करते थे। युद्ध-वर्णन मे लिखा है कि रणभूमि

में धूल उड रही थी और ध्वजो में अकित मत्स्य (धूल मे) ऐसे लग रहे थे, जैसे समुद्र में तैरते हुए झिलमिल दिखाई दे रहे हो !

जब १९३७ में प्रदेश काग्रेसी-मत्रिमडल के शासन मे आया, तो ब्रिटिश सरकार से लिखा-पढी कर के विधानसभा-भवन के द्वार पर अकित उस चिन्ह को राज-चिन्ह बना लिया गया।

यहाँ मतलब की बात इतनी ही कि 'वेणी' का अर्थ 'त्रिवेणी' मे 'प्रवाह' है, 'नदी' नही। यानी गगा और यमुना का ही सगम है, सरस्वती का कभी नही हुआ। 'सरस्वती' इधर आई ही नही !

'सगम' शब्द भी बाद मे चला। 'प्रयाग' को ही पहले इस अर्थ मे लेते थे। 'यज्' धातु से 'याग' है। 'यज्' का अर्थ 'सगतिकरण' यानी 'सगम' भी है। 'याग'—सगम और प्र—याग—उत्कृष्ट सगम। 'प्रयाग' (सगम) पर जब बडी बस्ती बस गई और उस (बस्ती) को लोग 'प्रयाग' कहने लगे, तब 'सगम' शब्द की जरूरत पडी।

२—'सुत' आदि की सादृश्य में लक्षणा

सादृश्य देने के लिए 'मित्र' 'प्रतिद्वन्द्वी' 'सहोदर' 'सब्रह्मचारी' आदि शब्दो का लाक्षणिक प्रयोग होता है। कभी-कभी 'बाप' का भी—'यह खरबूजा तो लखनऊ का भी बाप है।' 'लखनऊ' की लक्षणा—'लखनऊ का खरबूजा। सादृश्य मे 'बाप' का लाक्षणिक प्रयोग। मतलब यह कि यह खरबूजा लखनऊ के खरबूजो से कम मीठा नही। सादृश्य देने के ढँग है। इसी तरह 'मसूरी स्वर्ग का ही एक टुकडा है'। सादृश्य मे 'टुकडा' का लाक्षणिक प्रयोग। "हाथियो का कहना

ही क्या! ऐरावत के वच्चे है, जनाव!" यानी ये हाथी ऐरावत के समान हैं। इसी तरह कभी 'सुत' 'पुत्र' आदि शब्दो का प्रयोग सादृश्य प्रकट करने के लिए होता था, जो वाद मे कम पड गया, उड गया। 'वाप' का ही प्रयोग उडा जा रहा है। वोल-चाल मे रह गया है, साहित्य मे शायद ही कही मिले! कहा जाता था 'भीम पवन के पुत्र हैं'—यानी भीम मे पवन जैसी शक्ति है। 'अर्जुन इन्द्र के सुत हैं'—यानी अर्जुन मे इन्द्र जैसी शासन-क्षमता है। इसी तरह 'धर्म-पुत्र' और 'सूर्य-पुत्र' आदि सादृश्यार्थ मे थे। लोग लाक्षणिक अर्थ न निकाल सके, तव वाच्य ही ले चले और समझने लगे कि पवन तथा सूर्य आदि के पुत्र भीम और अर्जुन आदि थे! फिर सगति वैठाने के लिए कथाएँ गढ कर मिलाई गई—'भारत' को 'महाभारत' वना दिया गया!

जव कुन्ती के लिए यो व्यभिचार-कल्पना कर ली गई, तो पतोहू द्रौपदी कैसे वचती! उस के सिर भी पाँच मढ दिए गए! जरा उस कहानी पर ध्यान दीजिए।

अर्जुन ने विजय-उपहार मे द्रौपदी को प्राप्त किया था—'भिक्षा' मे नही। कोई भी अपने उत्कर्ष के लिए झूठ वोलता है, अपकर्ष के लिए नही। फिर, अर्जुन ने वाहर से ही चिल्ला कर क्यो झूठ वोला कि 'मा हम एक चीज भिक्षा मे लाए है!" द्रौपदी को वे भिक्षा मे न लाए थे? यह झूठ क्यो?

दूसरी वात यह कि अर्जुन ऐसे छिछोरे न थे कि अपने वडे और छोटे भाइयो के सामने अपनी मा से यो कहते! कोई गँवार भी व्याह कर के स्त्री को लाता है, तो द्वार के वाहर से ही

यो नही चिल्लाता कि 'मा, मै एक चीज लाया हूँ !' और, अर्जुन को वैसा छिछोरा भी मान लो, तो वैसी बात सुन कर कोई भी मा कहे गी—'देखू बेटा, क्या है ?' पर कुन्ती ने अस्वाभाविक उत्तर दिया—'बेटा, बाँट खाओ ।' खैर, कह भी दिया, तो असावधानी या अज्ञान से कही हुई बात प्रामाणिक नही होती, मानने योग्य नही होती । तब क्यो मानी ? माननी ही थी, तो बाँट कर खा जाना चाहिए था, हडी पक जानी चाहिए थी ! सब गडबड ।

आज भी कही-कही बहुपतिक विवाह सुने जाते है , पर हमारे पूर्वजो मे यह बात न थी । यदि ऐसा होता, तो और उदाहरण मिलते और फिर उपर्य्युक्त कहानी भी न गढनी पडती !

परन्तु सास को जब वैसा कह दिया और वैसी कहानियाँ लिख दी, तब द्रौपदी को भी तो कुछ कहना ही था ! 'पाञ्चाली' शब्द से भी लोग गडबडाए हो गे ।

३—ब्रह्मा और सरस्वती

'ब्रह्म' माने ज्ञान और 'ब्रह्मा' माने ज्ञान का उपासक । सरस्वती माने विद्या । ज्ञान, विद्या, सरस्वती आदि एकार्थक शब्द है । कहा गया—'ब्रह्मा सरस्वतीपति है'—यानी ज्ञान की उपासना करने वाला ही ज्ञान का मालिक होता है , लक्ष्मी की उपासना करने वाला कभी भी सरस्वती-पति नही हो सकता , लक्ष्मीपति ही रहे गा । 'ब्रह्मा' पुल्लिङ्ग शब्द है, 'सरस्वती' स्त्रीलिङ्ग , इस लिए समझा गया कि ब्रह्मा की भार्या सरस्वती थी ! फिर कही पढा—'ब्रह्मा सरस्वती का जनक है'—

अर्थात् ज्ञान की उपासना करने वाला (ब्रह्मा) ही सरस्वती पैदा कर सकता है—विद्या पैदा कर सकता है। यहाँ 'जनक' का अर्थ 'पिता' समझ लिया गया; यानी यह कि सरस्वती ब्रह्मा की लडकी थी! एक जगह ब्रह्मा को 'सरस्वतीपति' (विद्यापति) कहा और अन्यत्र 'सरस्वती-जनक' (विद्या का उत्पादक)। समझने वालो ने एक जगह पति-पत्नी समझा और दूसरी जगह 'पिता-पुत्री'! फिर इस के लिए बडी ही बीभत्स-गन्दी कहानियाँ गढी गई, जिन्हे सुन कर जगली लोग भी शर्मिन्दा हो जाएँ गे!

४—जनक-सुता से राम का विवाह

बौद्ध-जातको मे लिखा है कि राम का विवाह अपनी बहन से हुआ था! हद हो गई न! बात समझे? बौद्ध-मत अपने साथ राम-कथा को भी देश-देशान्तर ले गया। पालि-चीनी कोश बने, पालि-तिब्बती कोश बने। इन कोशो मे 'जनक' का अर्थ 'बाप' बताया गया। व्यक्ति-वाचक सज्ञाएँ कोश-ग्रन्थो मे बहुत कम आ पाती है। फिर चीनी-तिब्बती लोगो ने पढा—'राम का विवाह जनक-सुता से हुआ था', तो समझे 'बहन' न लिख कर प्रयोग-वैशिष्टय से 'जनक-सुता' लिख दिया गया है। बस, कहानी मे लिख दिया—'राम का विवाह अपनी बहन से हुआ था!' ये कहानियाँ अन्य भाषाओ मे अनूदित हुई और सर्वत्र वही भ्रम इन कहानियो के साथ रहा—'राम का विवाह अपनी बहन के साथ हुआ था!' है न कुए मे भाँग?

५–'अन्धकूप' और सूरदास

सूरदास ने कही लिखा कि 'भगवान्, हमे अन्धकूप से निकालिए'। ससार को अन्धकूप कहा। परन्तु लोगो नें (लाक्षणिक अर्थ तक पहुँच न होने के कारण) वाच्य अर्थ ही पकड लिया कि सूरदास किसी अँधौए कुए मे गिर पडे थे। कल्पना की, भगवान् ने निकाल लिया हो गा! पर आगे मजे की बात देखिए—

हाथ छुडाए जात हौ, निबल जानि कै मोहिं।
हिरदै ते जब जाहु गे, सबल सराहौं तोहिं।

किस ने किस का हाथ पकड रखा था? सूरदास का हाथ पकड कर निकाला था न! तब हाथ छोड कर भागे थे कृष्ण, या छुडा कर? और भागे क्यो? क्या सूरदास उन के बकोट-चकोट लेते?

६—सीता की 'अग्नि-परीक्षा'

साधारण और प्रचलित प्रयोग है—'अग्नि-परीक्षा'। कोई बडे से बडे सकट मे भी अपना स्वरूप, धर्म, इज्जत बचा ले, तो कहा जाता है—'उस की अग्नि-परीक्षा हो चुकी'–'वह अग्नि-परीक्षा मे खरा उतरा'।

इस 'अग्नि-परीक्षा' का भी वाच्य अर्थ समझ लिया गया गया और कहा जाने लगा कि लका मे अग्नि प्रज्वलित की गई और सीता जी उस में कूद पडी और फिर ज्यो की त्यो बाहर आ गई!

और हद देखिए—एक धोबी के कहने से सीता को उस दशा मे घोर जगल मे छुडवा देने की कल्पना! कहते है—प्रजारजन के लिए! यह कैसा प्रजारजन? एक धोबी ही सम्पूर्ण देश की प्रजा था? और सब कुछ भी नही? उसे खुश करने के लिए सम्पूर्ण (कोटि-कोटि) प्रजा का दिल दुखाना प्रजा-रजन है? एक प्रजा की वकवास से किसी निर्दोप प्रजा का गला काट लेना क्या राजोचित काम है? विशेपत जब राजा को मालूम हो कि वह प्रजा निर्दोष है, जिसे वह दुष्ट दोपी कह रहा है!

यह कथा एकदम गलत है–प्रक्षिप्त है। इसी लिए तुलसी ने 'मानस' मे यह कथा नही रखी और न 'शम्बूक-वध' वाली ही रखी! वाल्मीकीय रामायण का उत्तर काण्ड प्रक्षिप्त साफ जान पडता है, जिस मे यह सब लिखा है। अन्य काण्डो के नाम कथानक या स्थान के नाम से है—बाल-काण्ड, अयोध्या-काण्ड आदि। यदि मूल ग्रन्थ का अङ्ग वह होता, तो 'सीता-निर्वासन काण्ड' या 'प्रजारजन काण्ड' जैसा कोई नाम होता। 'उत्तर काण्ड' का मतलव साफ है—'उत्तर' (वाद) मे बना कर जोडा गया 'काण्ड'।

७–'अग्नि' और 'पशु'

'अग्नि' और 'पशु' जैसे शब्दो के लाक्षणिक प्रयोग वेदो मे हुए है। परन्तु इन का भी वाच्य अर्थ ले कर बहुत-बहुत अनर्थ हुए है। उस समय देवासुर-सग्राम हो रहा था। यानी हमारे पूर्वजो को असुर तग किया करते थे। देव थे तो

वीर , परन्तु प्रतिहिंसा की भावना उन में न थी और दया-क्षमा के नाम पर वैसी ही गलतियाँ किया करते थे, जैसी कि बहुत दिन बाद भी सम्राट् पृथ्वीराज आदि में देखी गई । इस से समाज का कितना अहित होता है, कहने की आवश्यकता नही । इस बौडमपन को मिटाने के लिए और अपनी रक्षा के लिए ऋषि-जन (उस समय के दूरदर्शी साहित्यिक) जागरण दे रहे थे आग पैदा कर रहे थे, शत्रुओ से भिड कर उन्हे नष्ट करने के लिए , जिस से कि अपनी रक्षा हो, भय से मुक्ति मिले । वेदो मे सब से पहला ऋग्वेद, ऋग्वेद का प्रथम सूक्त 'अग्नि-सूक्त' और इस अग्नि-सूक्त के प्रथम मत्र का प्रथम अक्षर है 'अग्नि'— 'अग्निमीडे पुरोहितम्' । 'अग्नि' का ऐसा ही महत्त्व था, शत्रुओ से त्राण पाना था । खूखार को शान्ति और अहिसा का उपदेश चाहिए और चुपचाप सब अत्याचार सह लेने वाले शक्तिशाली को कुछ गरमाहट लाने वाली चीज चाहिए ।

इस 'अग्नि' में अच्छी से अच्छी आहुति पडनी चाहिए , अर्थात् श्रेष्ठ से श्रेष्ठ योद्धा सिर हथेली पर ले कर आगे बढे और और पशु-बलिदान करे। 'पशव आततायिन '—आततायी पशु होता है। जो दूसरो को खा जाने के लिए सदा तयार रहे, दूसरो के बच्चो की हत्या कर दे, बहू-बेटियो को छीन ले जाए और धर्म-स्थान नष्ट कर के उन्हे अपमानित करे, वह 'आततायी' कहा जाता है। आततायी पशु ही तो होता है ! वह ज्ञान-उपदेश से माने गा थोडे ही ! वह तो शक्ति से माने गा। शक्ति पैदा करो, अग्नि की उपासना करो और इस अग्नि मे उन पशुओ को जला दो। तब मुक्ति मिले गी, तब

निर्द्वन्द्व जीवन हो गा और सुख मिले गा। परन्तु यह यज्ञ मत्र-पूर्वक होना चाहिए, अन्धाधुन्ध नही। 'मत्र' माने 'मत्रणा'। आपस मे खूब सोच-विचार कर के और सुनिश्चित योजना बना कर वह सब हो गा, तब काम बने गा।

यह सब लक्ष्य अर्थ आगे चल कर लोग भूल गए, जब (शत्रु-सकट समाप्त होने के अनन्तर) बडे-बडे राज-पाट बन गए और लोग मौज-बहार से रहने लगे। तब 'अग्नि' का अर्थ यही साधारण आग और 'पशु' का भी वाच्य अर्थ लिया जाने लगा और 'मत्र' पढ-पढ कर बेचारे निरीह पशुओ को लोग काट-काट कर आग मे डालने लगे। कैसा अनर्थ।

कभी-कभी शब्दार्थ करने मे एक दूसरी तरह की भूल हो जाती है। आयुर्वेद के ग्रन्थो में लिखा है कि वायु दूषित हो जाए, तो घी आदि का उपयोग करना चाहिए। विशेषत. घी का ही उपयोग बताया गया है और सो भी गौ के घी का। 'गव्य घृत पिब निवातगृह प्रविश्य'—वायु-विकार है, तो निवात-गृह मे बैठ कर गो-घृत पियो। आग मे घी छोडो, वायु शान्त हो जाए गी। एक विशेष आग और विशेष वायु की चर्चा है, शरीर से जिन का आन्तर सबन्ध है। परन्तु महान् विचारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सामान्य अग्नि और सामान्य वायु समझ कर लिख दिया कि प्रति दिन लोग आग मे घी छोडा करे, जिस से वायु-शुद्धि हो। फलत आज भी सनातनी और आर्यसमाजी मिल कर इसी आग मे मनो घी नित्य प्रति उडेल कर नष्ट कर रहे है, जब कि लोगो को शारीरिक उपयोग के लिए छींट भी प्राप्त नही। हवन के लिए शुद्ध घी

चाहिए, भोजन मे डालडा ही ले ले गे। जर्मन, जापान, अमरीका आदि में वायु-शुद्धि कैसे होती है? वहाँ सब बीमार ही रहते है क्या?

शब्दो का सही अर्थ न समझने से बडी गडबड मच जाती है।

८—व्रजभाषा का 'दारी' शब्द

व्रज में 'दारी' शब्द बहुत प्रचलित है, औरतो को गाली देने के काम आता है। परन्तु इस शब्द का तात्त्विक अर्थ क्या है, व्रज के लोग भी आज नही जानते। साहित्यिक भी 'दारी' शब्द का अर्थ नही जानते और कोश-ग्रन्थो में 'दासी' का रूपान्तर 'दारी' बतलाया गया है। 'दासी' से 'दारी' कैसे बना? कोई पद्धति भी है? कुछ नही। और 'दासी' कह कर या 'नौकरानी' कह कर कोई गाली नही देता। गाली मे बेवकूफी, दुष्टता, दुश्चरित्रता जैसी कोई चीज आनी चाहिए।

'दारी' किसी समय व्रज में 'वेश्या' के अर्थ मे चलता था। 'दारा' एक की भार्या और 'दारी' सब की, भाडे की। स्वामी हरिदास ने एक पद्य मे भगवान् की अनन्य भक्ति का वर्णन किया है और कहा है कि भगवान् के साथ-साथ अन्य देवी-देवताओ की भक्ति करना ठीक नही। 'अकाम सर्वकामो वा यजेत पुरुषो हरिम्'। वैष्णवो की इस अनन्योपासना का जिक्र करते हुए उन्हो ने कहा है कि अनन्य भगवद्भक्तो के बीच बहुदेवोपासक ऐसा है—'ज्यो दारन मे दारी'—जैसे सद्गृहस्थ कुलवधुओ के बीच मे वेश्या।

यो 'दारी' शब्द का अर्थ स्वामी हरिदास की 'वानी' से स्पष्ट है। अन्यत्र पता नही लग सकता। किसी समय व्रज मे 'दारी' को लोग भूल गए, पर गाली आदि मे शब्द चलता रहा—चलता आ रहा है। कालान्तर मे फिर जब वेश्या-वृत्ति पनपी, तब शब्दान्तर का प्रयोग उन के लिए हुआ। 'दारी' शब्द उन के लिए ही है, यह बात लोग भूल चुके थे।

इसी तरह संस्कृत 'वारस्त्री' आदि का 'वार' शब्द है। वेश्याओ के बैठने-रहने का बाजार किसी समय 'वार' कहलाता था, जहाँ सब का 'वरण' हो जाए, पैसा भर चाहिए! अंग्रेजी का 'वार' शब्द भी बहुत कुछ ऐसा ही है। पैसा चाहिए, कोई हो! परन्तु किसी समय नगरो का शुद्धीकरण हुआ और 'वार' उठ गए। परन्तु 'वारस्त्री' आदि मे 'वार' शब्द चला आ रहा है, यद्यपि इस का स्वतंत्र प्रयोग जाता रहा और लोग अर्थ भी भूल गए। बहुत जल्दी अर्थ भूल जाता है। सन् १९१९–२० तक अपने देश मे 'घाँघरा' पहनने की कितनी चाल थी? परन्तु साहित्य में 'घाँघरा'–'घाँघरो' शब्द आ जाने पर आज छात्रो को समझाने मे दिक्कत होती है, कल समझाने वाले ही न समझ पाएँ गे। कोश या टीका-ग्रन्थो मे इतना लिखा रहा करे गा—'घाँघरा' एक प्रकार का वस्त्र होता था, जिसे स्त्रियाँ पहनती थी।' लोग समझे गे कि खादी, पापलीन, मारकीन जैसा कोई नाम 'घाँघरा' है, किसी कपड़े का।

'दाम' का अर्थ समझाने मे दिक्कत होती है न। 'दाम' साधारणत धन के अर्थ मे चलता है; पर 'वक विकारी के

लगे, दाम रुपैया होत' से स्पष्ट है कि 'दाम' एक सिक्का था—सब से छोटा——

'छदाम मे छै दाम, धेला साढे बारह दाम,
पैसे मे पचीस दाम'

यह याद कराया जाता था। सब से छोटा सिक्का लक्षणा से सम्पत्ति के अर्थ मे चलता है——'वे पैसे वाले है भाई!' इसी तरह 'दाम' का चलन है।

इस विषय पर स्वतत्र रूप से कभी विस्तार से लिखा जाए गा।

'अग्नि' आदि शब्दो का विस्तार से अर्थ समझने के लिए मेरी 'मानवधर्म-मीमासा' देखनी चाहिए। रात को कमल सकुचित हो जाता है, यह प्रवाद है। यहाँ 'कमल' क्या है और उस में बन्द हो जाने वाला 'भौंरा' क्या है, यह सब 'अग्नि' का अर्थ समझाते हुए 'मानवधर्म-मीमासा' मे ही उदाहरणार्थ आया है।